[अंक १

(शेष कवर के तीसरे पृष्ठ पर)

जनपद

हिन्दी जनपदीय परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष १] काशी: कार्तिक संवत् २००६ [अंक १

हमारी आवश्यकता

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

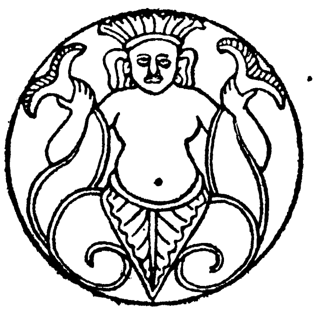
आज से पहले मुझे मालूम नहीं था कि हिन्दी में ग्राम भाषाओं के सम्बन्ध में इतना काम हो गया है। सच पूछिए तो इस प्रकार के काम में सबसे अधिक रुचि अंग्रेज़ों ने दिखाई। ग्रियरसन की पुस्तकों में इतनी सामग्री मिलेगी जितनी कि हम लोग अभी नहीं जानते। उदाहरण के लिये ग्रियरसन ने चरखे के भिन्न-भिन्न अंगों के नाम पूछ-पूछकर लिखे। ग्रियरसन ने जो लिखा उसे उतना चरखा संघ के कार्यकर्ता भी नहीं बता सकते। अब तो शायद उनकी पुस्तकें भी नहीं मिलती होंगी। हमारे यहाँ घाघ और भड्डरी के दोहे प्रचलित हैं। गाय, बैल, हाथी, घोड़े आदि के दोष जानने के लिये लोग इन दोहों से सहायता लेते हैं। इन में नाम ही नहीं, इन दोषों की चिकित्सा की भी चीजें मिलती हैं। इसमें शक नहीं कि हमारे ग्राम्य जीवन में इतना मसाला पड़ा है, जितना हमारे इतिहास-ग्रन्थ भी नहीं बता सकते।

अभी संथाली की बात कही गई। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हमारे नवयुवक लोग इस बात की ओर ध्यान दे रहे हैं। संथाली की अंग्रेजों ने जितनी जानकारी हासिल की उतनी हम लोगों ने नहीं की।

अब समय आ गया है कि हमारा ध्यान इन चीज़ों की ओर जाना चाहिए। हमारा देश स्वतंत्र है। स्वतंत्र देश केवल राजनीति का ही नहीं होता। उसमें ऐसी स्फूर्ति होनी चाहिए कि नई चीजों का निर्माण कर सकें तथा दूसरों को प्रेरणा दें। यह तभी होगा जब हमारी संस्कृति में जो भण्डार है उसे हम जानें। जो हम करेंगे उसका आधार पुरानी संस्कृति ही हो

के अन्दर ऐसी भी एक जगह है जहाँ अपमान का उपशम होता है और वहाँ वह दुर्भाग्य की दासता से बच कर जरा दम लेकर आराम कर सकता है। किसी समय मनुष्य को इस प्रकार की तृप्ति देने के लिये समस्त समाज ने बहुत बड़ा आयोजन किया था। उसका कारण यह था कि समाज ने विपुल जनसाधारण को अपना समझकर स्वीकार कर लिया था। वह जनता था कि उनके नीचे उतर जाने पर सारा देश ही उतर जायगा। आज जनता का मानसिक उपवास दूर करने के लिये कोई भी उसकी कुछ भी सहायता नहीं करता। उनके कोई आत्मीय या अपने आदमी नहीं हैं। बेचारे अपने आप ही पहले जमाने की तलछट से ही किसी तरह थोड़ी सी सान्त्वना पाने की कोशिश करते रहते हैं। और कुछ दिन बाद यह भी खतम हो जायगा, सारे दिन के दुःख-धंधों के रीते तट पर निरानंद घरों में दिआ भी न जलेगा, और न गीत ही सुनाई देंगे। वहाँ बाँस के झाड़ों में झींगुर झनकारेगें, झाड़ियों में से पहर-पहर पर सियारों की बोली सुनाई देगी और उसी समय शहरों में शिक्षाभिमानियों के झुण्ड बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिये भीड़ लगाए रहेंगे।

एक ओर तो हमारे देश में सनातन शिक्षा की व्यापकता रुक जाने से जन-साधारण में ज्ञान का अकाल चिरंजीवी होकर खड़ा हो गया, और दूसरी ओर आधुनिक समय की नई विद्या का जो आविर्भाव हुआ, उसका प्रवाह भी देश के जन-साधारण की ओर नहीं बहा। पत्थर के बने कुंडों के पानी की तरह वह जगह-जगह आबद्ध होकर रह गया। जहाँ बहुत दूर से आकर तीर्थ के पंडों को दक्षिणा देकर तब कहीं अंजुलि भरने की नौबत आती है, नियम ही ऐसे कसकर बाँधे गए हैं। मन्दाकिनी के रहने का स्थान विशेष रूप से शिव के पेंचीले जटाजूट में ही है, मगर फिर भी उन्होंने अपनी धारा देवललाट से उतार कर बहुत ही साधारण रूप में घाट-घाट के नीचे से मर्त्यजनों के द्वार के सामने होकर बहाई और घट-घट में भरकर अपना प्रसाद बाँटा है। परन्तु हमारे देश में चालू प्रवासिनी आधुनिकी विद्या वैसी नहीं है। उसके विशिष्ट रूप तो हैं, पर साधारण रूप नहीं है। इसीलिए जिन्होंने अंगरेजी सीखकर विशिष्टता प्राप्त की है, सर्व-साधारण के संग उनके मन का मेल नहीं होता। हमारे देश में सबसे बढ़कर जातिभेद यही है, श्रेणियों में परस्पर अस्पृश्यता इसीका नाम है।



ग्राम-साहित्य

रामनरेश त्रिपाठी

मुझे इस बात का बड़ा हर्ष है कि ग्राम-गीत या ग्राम-साहित्य की जहाँ चर्चा आती है, वहाँ मेरा भी नाम स्मरण कर लिया जाता है। मैं स्वयं भी अपने साहित्यिक कार्यों में इसको अधिक महत्व देता हूँ।

यद्यपि मेरा जन्म गाँव में और एक किसान के घर में हुआ था, और उन्नीस वर्ष की उम्र तक मैंने जौनपुर और फैजाबाद की सड़कों पर घूम लेने के सिवा शहर को देखा भी नहीं था; पर इसके बाद संयोग से या ईश्वर की कृपा से मुझे शहर की ऐसी संगत मिल गई, जिसमें शहर की रहन-सहन और शिष्टाचार का अनुकरण करके पद-पद पर चौकन्ना होकर रहना पड़ता था; उसका मन पर ऐसा प्रभाव पड़ गया था कि उसके सामने गाँववालों का जीवन गंदगी और आचारहीनता से भरा हुआ घृणित-सा लगने लगा था। आँखों पर विदेशी सरकार की शिक्षा का चश्मा था ही; उसमें से गाँव की सभी वस्तुएँ विकृत दिखाई पड़ती थीं। अपने ही देश में मैं विदेशी-सा बन गया था।

१६२४ तक मैं गाँववालों का गुरु ही बनने का हौसला रखता था। तबतक मैं हिंदी के पुराने और नए, संस्कृत के प्राचीन कवियों और उर्दू के शायरों को पढ़ चुका था और उन पर कविता-कौमुदी के कुछ भाग भी लिख डाले थे। कहने का अभिप्राय यह है कि तबतक मैं इतना ही जानता था कि ये ही लोग कवि हैं, और ये जो कुछ कहते हैं, वही कविता है। मुझे ज्ञात ही नहीं था कि गाँववालों के पास भी कविता हो सकती है। बल्कि मैं उनकी खिल्लियाँ उड़ाने में आनंद अनुभव किया करता था।

१६२४ में मैं इलाहाबाद से जौनपुर रेल से जा रहा था। एक स्टेशन पर गाँव के कुछ गरीब लोग अपनी-अपनी स्त्रियों सहित कलकत्ते जाने के लिये उसी डब्बे में आ बैठे, जिसमें मैं था। कुछ वृद्धा स्त्रियाँ और बच्चे उनको पहुँचाने आए थे, वे प्लेटफार्म पर खड़े रो रहे थे। गाड़ी चली तो वे भी चले गए।

जो स्त्रियाँ डब्बे में बैठी थीं; उनमें से कुछ नवयुवतियाँ थीं और चुलबुली जान पड़ती थीं। वे गाने लगीं। उस समय तो उनके गीत की एक ही कड़ी मैंने याद कर ली थी, जिसका मेरे मस्तिष्क पर जोर का धक्का लगा था। बाद को वह पूरा का पूरा गीत ही मुझे मिल गया, और वह यह है:—

पुरुब से आइ रेलिया पछिउँ से आइ जहजिया,
पिय के लादि लेइ गई हो।
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया,
पिय के लादि लेइ गई हो॥

रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी, उहै पइसवै बैरी हो,

देसवाँ देसवाँ भरमावै, उहै पइसवै बैरी हो।

भुखिया न लागै पिअसिया न लागै, हमके मोहिया लागै हो,

तोहरो देखिके सुरतिया, हमके मोहिया लागै हो॥

सेर भरि गोहुँआ बरिस दिन खइबै पिय के जाइ न देबै हो,

रखबै अँखिया के हजुरवाँ, पिय के जाइ न देबै हो॥

इसमें सबसे ज्यादा कौतूहलजनक बात जो मुझे मालूम हुई, वह थी रेल की सौत से उपमा। सौत के लिये यह उपमा तो बिल्कुल ही नई थी। हिन्दी या उर्दू के किसी कवि को यह नहीं सूझी थी। मैं सोचने लगा, ऐसे गीतों को बनाता कौन है? इसमें न तुक है, न मात्राओं की गिनती; कवियों की रचना तो यह हो नहीं सकती।

यही ग्राम-गीतों का सबसे पहला बीज था, जो आगे चलकर शीघ्र ही, अंकुरित पल्लवित, पुष्पित हुआ।

इसके बाद एक मेले में कुछ गीत, दोहे और बिरहे और मिले जिन्होंने उस अंकुर को जमीन से ऊपर सिर उठाने और पत्तियों के हाथ फैलाने को उत्साहित किया। उनमें से दो तीन ये हैं:—

हम चितवत तुम चितवत नाहीं तोरी चितवन में मन लागो पिया।

× × ×

सावन में मैं मेहँदी बोआयउँ भादों में दुइ पात।

लगत कुआर पिया चले परदेसवाँ, सींचौं मैं नैन निचोरि॥

× × ×

बिरहा गावउँ बाघ की नाईं, दल बादर घहराय।

सुनि के गोरिया अँगन उठि धावै, बिरहा क सबद ओनाय॥

मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि हृदय के ऐसे बारीक भावों को कौन पकड़ लेता है और उन्हें गीत के साँचे में ढाल देता है।

यह कौतूहल ही मुझे गीतों की दुनियाँ में ले गया। फिर तो वहाँ का भाव-सौन्दर्य देखकर मैं ऐसा मुग्ध हुआ कि दिमाग़ को खरोंच-खरोंचकर बनाई हुई कवियों की कविताएँ मुझे फीकी जान पड़ने लगीं।

इसके पहले मुझे पता ही न था कि यह भी कोई विषय है। क्योंकि हिन्दी में तो और किसी ने इस पर प्रकाश डाला नहीं था; अन्य भाषाओं की तरफ़ मेरा ध्यान ही नहीं गया। १६२४ में मैंने कुछ गीत अर्थ-सहित प्रयाग की सरस्वती मासिक पत्रिका में प्रकाशित कराए। उन्हें पढ़कर साहित्य-रसिक मित्रों ने मेरे काम की सराहना की और उनमें से कइयों ने मुझे

मार्ग भी दिखाया। उनसे ही मुझे मालूम हुआ कि गुजराती गीतों का संग्रह श्री मेघाणीजी नाम के एक विद्वान् कर रहे हैं और बँगला में भी मैमनसिंह के बाउल गीत छपे हैं, तथा अँग्रेजी में तो इस विषय पर सैकड़ों पुस्तकें निकल चुकी हैं। श्री मेघाणीजी की सब पुस्तकें मैंने मँगाकर पढ़ीं और इलाहाबाद की पबलिक लाइब्रेरी में अँग्रेजी की जो पुस्तकें मिल सकीं, मैंने उनसे भी लाभ उठाया।

पहली जनवरी १९२५ को मैंने अपनी गीत-यात्रा शुरू की। पंजाब, काश्मीर, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण के प्रायः सभी प्रान्त तथा बिहार, डिब्रूगढ़ तक आसाम और बंगाल के कुछ हिस्सों की मैंने पैदल, रेल, लारी और इक्के से यात्रा की। इसमें मेरे आठ-दस वर्ष लगे। एक प्रान्त से लौटकर आता था तो बीच में दो-तीन महीने युक्त प्रान्त के जिलों में भी दौरा कर आता था। इस तरह काम आगे बढ़ता ही रहा। दक्षिण भारत की मैंने तीन बार यात्रा की। गुजरात और राजस्थान भी तीन बार गया हूँ। इसके सिवा मैंने गीत-संग्रह के लिये और भी नौकर रक्खे, जिन्होंने मुझे खूब ठगा। विज्ञापन देकर, पत्र लिखकर और मित्रों से ज़बानी अनुरोध कर के भी मैंने गीत लिखवा मँगाए। एक संग्रह श्री राजेन्द्र बाबू (वर्तमान राष्ट्रपति) ने भी भेजा, जो उनकी धर्मपत्नी के पास था और लिखा कि इतने दिन साथ रहने पर भी मुझे मालूम नहीं था कि मेरी धर्मपत्नी के पास गीतों का एक संग्रह भी है। इस तरह आठ-दस वर्षों में मेरे पास लगभग बीस हज़ार गीतों का संग्रह हो गया। इस पर भी मैं कह सकता हूँ कि वह समुद्र में एक बूँद के बराबर भी नहीं है।

इतने बड़े और नये काम में मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिये अड़चनें कम नहीं थीं। अब तो मेरा विश्वास हो गया है कि आदमी को किसी काम की धुन सवार हो जाय तो अड़चनें आपसे आप हल भी होती रहती हैं। सबसे बड़ी अड़चन तो धन की थी। यह काम किसी एक व्यक्ति के बूते का तो है नहीं; इसे तो संस्था, राजा-महराजा, सेठ लोग करते तो उनको कठिनाई कम पड़ती। पर सच्ची लगन देखकर भगवान् तो मेरे आगे-आगे चलते थे। गीत-संग्रह की उपयोगिता समझकर सेठ घनश्यामदास जी बिरला ने दो हज़ार रुपये का एक चेक मसूरी से भेजा। काश्मीर के गीतों के लिये स्व० लाला लाजपत राय की प्रेरणा से सेठ ब्रजमोहन बिरला ने वहीं कुछ आर्थिक सहायता दी। तीसरी सहायता जो मैंने पाई थी वह अनमोल है। १९२८ में थोड़े-से ग्राम-गीत नमूने के तौर पर मैंने कविता-कौमुदी के पाँचवें भाग में प्रकाशित किए। और उसकी भूमिका में अपनी गीत-यात्रा और उसमें आनेवाली कठिनाइयों का भी विस्तृत वर्णन कर दिया। उसे पढ़कर दिल्ली के एक सज्जन की धर्मपत्नी बहुत प्रभावित हुईं और उन्होंने आग्रह करके अपने पति से पाँच सौ रुपये के नोट भेजवाए। साथ में एक पत्र था, जिसमें लिखा था—"आपकी पुस्तक पढ़कर मेरी स्त्री बहुत प्रभावित हुई, उसके आग्रह से ये रुपये भेजता हूँ। लिफ़ाफ़े पर भेजनेवाले का कल्पित नाम लिखा हुआ है। अतः आप मेरा नाम जानने का प्रयत्न न कीजिएगा। ये रुपये आप अपने स्वास्थ्य-सुधार में लगाइएगा; ताकि स्वस्थ रह कर आप हमलोगों का अधिक उपकार कर सकें।" ऐसा सात्विक दान तो मुझे इतिहास में भी पढ़ने को नहीं मिला था। मैंने सचाई के साथ पूरे पाँच सौ रुपये, पाई-पाई अपने स्वास्थ्य के लिये खर्च कर डाला। यात्रा में अधिक गुड़ खाने से मुझे डायबिटीज नाम का रोग

हो गया था। मैं कह सकता हूँ कि उन पवित्र पाँच सौ रुपयों ने और सचाई के साथ उनके खर्च ने मुझे रोग से मुक्ति दिला दी, और मैं अबतक जीवित हूँ। ग्राम-गीतों के संग्रह और एक पुस्तक के प्रकाशन में कुल आठ हजार रुपये खर्च हुए थे।

संग्रह के रास्ते में जो-जो दिक्कतें पड़ीं और यात्रा के जो-जो अनुभव हुए, वे तो एक बड़ी पुस्तक ही में अँट सकते हैं। पहले तो मैं उन्हीं गीतों के पीछे पड़ा रहा, जिन्हें स्त्रियाँ गाती हैं। उनके सिवा भी कुछ साहित्य है, उसकी ओर दो-तीन वर्षों तक मेरा ध्यान ही नहीं गया था। स्त्रियों के गीत लेने में एक बड़ी कठिनाई तो परदे की थी; दूसरे वे बोलकर लिखा भी नहीं सकती थीं। वे तो जब दो-चार साथ बैठकर गाने के उन्माद में आती हैं, तभी उनके दिमाग से गीतों की कड़ियाँ फूलों की पंखड़ियों की तरह खुलने लगती हैं; उस वक्त कोई आड़ में बैठकर, क्योंकि पुरुष के सामने स्त्रियाँ बुझ-सी जाती हैं, लिखना चाहे तो लिख सकता है।

जाँत या चक्की के ज्यादातर गीत मैंने रात के पिछले पहर में गृहस्थ के घर के पिछवाड़े बोरे पर बैठकर और लालटेन की धुँधली रोशनी में लिखे हैं। निरवाही के गीत सावन-भादों में धान के खेतों के मेंड़ों पर खड़े होकर लिखे हैं, चमारों के गीत उनके सड़े-गले और बदबू से भरे झोपड़ों में लगातार रोज बैठकर बुढ़िया चमारिनों से पूछ-पूछकर लिखे हैं। उनको काम पर जाने से रोक रखने के कारण मुझे उनकी दिनभर की मजदूरी देनी पड़ती थी। राजपूताने के शेखावाटी और बीकानेर आदि प्रांतों के गीत मैंने ऊँटपर चढ़कर रात में लिखे हैं, क्योंकि ज्यादातर रात ही में ऊँट पर सवारी लेकर ऊँटवाले चलते हैं, और नींद से बचने के लिये या मन की मौज से गाते हुए रास्ता काटते हैं। मैं ऊँटवाले के पीछे बैठकर उसकी पीठ पर कागज़ रखकर अंदाज से लिखता चलता था। सवेरे देखता था तो देवनागरी के अक्षर ऊँटों की क़तार-से बन गए होते थे।

एक दिक्कत मेरे सफ़ेद कपड़ों की भी मुझे उठानी पड़ी थी। एक तो मैं इलाहाबाद जैसे बड़े शहर में रहता था, दूसरे साफ़ कपड़े का शौकीन भी था, तीसरे कवि था; कवि को बनाव-चुनाव से प्रेम होता ही है। इससे साफ़-सुथरे और अच्छी कट-छँट के कपड़े पहन कर गाँवों में जाता था। वहाँ मैं अनमेल-सा लगता था, क्योंकि गाँववाले जाड़े के सिवा दूसरे मौसमों में धोती के सिवा और कपड़े पहनते भी कम हैं, दूसरे उनके कपड़े मैले भी होते हैं, इससे मैं उनके बीच में विचित्र-सा लगता था। इससे मैं उनके तरह-तरह के संदेहों का शिकार भी हो गया था। कोई कहता, ये खुफ़िया पुलीस के कोई अफ़सर हैं, किसी भागे हुए बदमाश की टोह में आए हैं; कोई कहता, ये कोई अपराध करके शहर से भाग कर छिपे-छिपे फिर रहे हैं; कोई कहता, ये किसी नौजवान लड़की या स्त्री को बहका कर ले जायँगे। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। कोई इस बात को स्वीकार ही नहीं करता था कि गीतों का संग्रह करना भी कोई काम है, जिसके लिये एक पढ़ा-लिखा आदमी, जो साफ़ कपड़े भी पहनता है, इस तरह गाँव-गाँव मारा-मारा फिरता है।

एक कठिनाई और भी थी। उसके पहले मैं स्वराज्य आन्दोलन में जेल हो आया था। इससे किसी के हाथ का छुवा खाने की झिझक तो निकल ही गई थी। गाँव में दिन भर दौड़-धूप करके शाम को थका हुआ, ठहरने की जगह पर आता और किसी ब्राह्मण को कहता कि उसके घर

की बनी कच्ची रसोई—दाल, रोटी, तरकारी, भात मैं खा लूँगा तो गाँववाले समझते कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ; किसी मतलब से ब्राह्मण बनकर घूम रहा हूँ। ब्राह्मण होता तो किसी का छुआ कैसे खाता। इस तर्क का विश्वसनीय समाधान न पाकर लोग तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगे और मुझपर जो ब्राह्मण होने की श्रद्धा थी उसमें भी मुझे कमी दिखाई पड़ने लगी और गीतों का संग्रह कराने में वे कुछ उपेक्षा भी करने लगे। तब मैंने अपने हाथ से भोजन बनाकर खाने का कठोर व्रत लिया। पर गांधीजी को छू लेने के बाद तो छुआछूत के सभी बंधन ढीले पड़ गए थे। व्रत-पोषण के बदले मेरा शोषण करने लगा। दिन भर का थका-माँदा, रात में भी कम सोया हुआ और मस्तिष्क में गीतों के नित्य नूतन रस का स्वाद लेता हुआ मैं गुड़ खाकर और पानी पीकर ही व्रत को तृप्त कर लेता। कभी-कभी दोपहर को और कभी-कभी संध्या को एक बार भोजन भी बनाकर पा लेता। सबेरे का 'खरमिटाव' तो गुड़ ही से होता। गाँवों में आगत-स्वागत भी तो गुड़ ही से होता है। गुड़ से अनिच्छा प्रकट करने पर गाँव के सीधे-सादे सज्जन गृहस्थ कहते—"आप तो शहर के रहनेवाले हैं, चीनी खाते हैं; पर हमारे यहाँ तो चीनी त्योहार के दिन भी नहीं मिलती"। मैं सोचता, इनको अपनी हीनता की याद से दुःखी क्यों बनाऊँ, मैं उनके साकार-स्वरूप गुड़ को सहर्ष और प्रशंसापूर्वक ग्रहण कर लेता। मैं नहीं जानता था कि गुड़ के अधिक सेवन से मैं शुगर की फैक्टरी बनता जा रहा था, जो अब जीवन-संगिनी बन गई है।

संक्षेप में यहाँ तक तो गीतों के साथ मेरे शरीर-संबंध की कहानी हुई। यह इसलिए लिख दे रहा हूँ कि आगे जो भाई गीत-यात्रा करें, वे मुझपर बीती हुई को आप बीती बनाने से बचें। अब आगे गीतों की दुनिया में मैंने जो कुछ देखा-सुना, उसका कुछ परिचय देता हूँ।

ग्राम-साहित्य का वर्गीकरण

पहले, वर्ष दो वर्ष तक तो मैं गीतों ही के पीछे विरही यक्ष के मेघदूत की तरह दौड़ता रहा; पर जैसे-जैसे गीतों के रस-समुद्र की गहराई में उतरता गया, वैसे-वैसे अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रत्नों को बिखरे हुए पाकर मैं तो चकित हो गया। पहले युवती स्त्रियाँ जब अपने कोकिल-कंठविनिंदक स्वर में गीत गाती थीं तब मेरा मन—एक अनगढ़ कवि का मन—उसकी परिधि से बाहर जाता ही न था। उन गीतों में सभी रस थे, इससे रस बदलते रहने से मन को तृप्ति होती ही न थी। पर जब मैंने यह देखा कि पिंगलाचार्य, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी और पद्माकर की सहायता लिए बिना ही गाँववालों ने जीवन के उपयोगी सभी प्रकार के साहित्य का निर्माण स्वयं कर लिया है, और उसी में वे मगन रहते हैं, तब मेरी परिधि और बड़ी और मैंने उनके लिये कई नई-नई झोलियाँ भी लटका लीं। पर उस समुद्र में तो सभी बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, किसान, मज़दूर, मगता और गृहस्थ एक-एक कुंड हैं, न सब तक मेरी पहुँच हो सकती थी और न थोड़े समय में एक कुंड के भी रत्न निकल सकते थे। और मुझे तो उतावली लग रही थी, इससे जो कुछ थोड़ा-बहुत जहाँ मिला, सबको अलग-अलग झोलियों में डालता गया।

ग्राम-साहित्य का वर्गीकरण मैंने इस तरह किया है:—

१ संस्कारों के गीत
२ व्रतों और त्योहारों के गीत
३ ग्राम-गाथाएँ
४ ग्राम-कथाएँ
५ मंदिरों में गाए जानेवाले पद
६ राह के गीत
७ खेत के गीत-निरवाही
८ भिखमंगों के गीत
९ भिन्न-भिन्न जातियों के जातीय गीत
१० कोल्हू के गीत
११ चक्की (जाँत) के गीत
१२ ऋतुओं के गीत
१३ बच्चों के गीत, खेल और कहानियाँ
१४ गाँव के मनोरंजन के साधन—मेले और तमाशे
१५ गाँव के खेल
१६ गुड़ियों के गीत
१७ ग्राम-संगीत (गीत और नृत्य)
१८ नृत्य और उसके प्रकार
१९ गाँव के बाजे
२० नीति की कहावतें
२१ सामाजिक कहावतें
२२ स्वास्थ्य की कहावतें
२३ खेती की कहावतें
२४ पहेलियाँ (बुझौवल)
२५ नए नए शब्द और मुहावरे
२६ मनुष्य और पशु के रोगों के नुस्खे
२७ पेशेवरों के शब्द
२८ जड़ी बूटियों की पहचान और उपयोग की कहावतें
२९ मुसलमानों के घरों में प्रचलित गीत
३० ग्राम-देवताओं के गीत

ग्राम-गीतों के रचयिता

ग्राम-गीत किसने रचे या कौन उन्हें रचता रहता है, इसका कुछ पता नहीं चलता। यदि ग्राम-गीतों में उनके रचनेवालों ने अपने नाम न देने का लोभ संवरण किया तो यह उनके

उपयुक्त ही है। क्योंकि जो ऐसा महत्त्वपूर्ण काम करेगा उसे नाम कमाने की लालसा से ऊपर ही उठे हुए हृदयवाला होना ही चाहिए।

मेरी राय में ग्राम-गीत किसी पुरुष या स्त्री-विशेष की रचना नहीं है, बल्कि स्वयं प्रकृति का गान है। यह गान प्रकृति ने हृदय में बैठकर किया है, इसमें मस्तिष्क का मेल नहीं है। इन गीतों द्वारा एक समाज की सरस्वती बोली हैं। **जिस तरह वेद अपौरुषेय माने जाते हैं उसी तरह ग्राम-गीत भी अपौरुषेय हैं।**

नाम

मैंने गीतों का नामकरण ग्राम-गीत शब्द से किया है। क्योंकि गीत तो ग्राम ही की संपत्ति हैं; शहरों में तो वे गए हैं, जन्मे नहीं; फिर गाँवों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय? शहरों ने तो समाज को सिर्फ़ ग़ज़लें, कविताएँ दी हैं, जो शहर के थोड़े ही से लोगों की समझ में आती हैं। गाँव के लोग तो उनको समझते भी नहीं। पर ग्राम-गीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, जातीय त्योहारों और सार्वजनिक उत्सवों में गाए जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार ग्राम-गीत शब्दद्वारा स्थायी हो जाय और गाँवों के प्रति हमारी कृतज्ञता का एक प्रमाण बना रहे।

कुछ संग्रहकर्त्ता महानुभावों ने इसका नाम लोक-गीत रक्खा है। उनकी राय में वे लोक शब्द से ग्रामीण और शहराती तथा प्रत्येक श्रेणी के लोगों को सम्बोधित करते हैं। पर विचारणीय बात तो यह है कि शहरवालों को मुफ़्त में उन गीतों के रचयिता की मान्यता क्यों दी जाय? शहरवालों ने तो अपने मुहावरे और कहावतें भी गाँवों की बोली से ली हैं, जिनका वे अपनी बोल-चाल और कविताओं में नित्य प्रयोग करते हैं। अतएव मैं फिर भी यही उचित समझता हूँ कि लोक-गीत की अपेक्षा ग्राम-गीत शब्द ही ज्यादा उपयुक्त और न्याययुक्त है।

ग्राम-साहित्य की उपयोगिता

पुरातत्त्व के विद्वान् पुराने खंडहरों को खोदकर उनकी ईंटें, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ जमा करते हैं और उनसे उनके जीवन-काल का इतिहास पूछते हैं और उनकी भाषा वे ही समझते भी हैं। पर ग्राम-साहित्य तो स्वयं बोलता हुआ इतिहास है, और उस बोली में है जिसे विद्वान् ही नहीं, अपढ़ और अशिक्षित भी समझते हैं। उसकी उपेक्षा की जाय, यह आश्चर्य की बात है।

भारतवर्ष तो गाँवों का देश है, यहाँ की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के चिह्न गाँवों में अभी तक वर्त्तमान हैं। कितनी बातें छूट गई हैं। विद्वज्जन उनकी व्याख्या करके जनता को उसकी उपयोगिता बता सकते हैं। जैसे, चमारों के एक गीत की कुछ कड़ियाँ लीजिए—

ऊँची अटारी उरेही चितसारी रे ना।
रामा किन धन पुतरी उरेहा रे ना॥

चमार घर में आता है और अपनी माँ से पूछता है कि ऊँची अटारी पर जो चित्र-शाला है, उसमें आज किस स्त्री ने एक (नया) चित्र बना दिया है?

इससे यह तो आसानी से समझा जा सकता है कि किसी समय हमारे घरों में चित्र-शाला नाम से एक कमरा अलग होता था; और जो नई बहू घर में आती थी, उससे एक चित्र बनवाकर उसकी परीक्षा ली जाती थी कि उसे घर-गिरस्ती की चीजों को करीने से रखने या सजाने का शऊर है कि नहीं; क्योंकि चित्रों में इस प्रकार के ज्ञान की बड़ी ज़रूरत पड़ती है। वह पुरानी चित्रशाला तो अब गायब हो गई, उसके बदले 'कोहबर' नाम से उसका वीभत्स रूप अब भी मौजूद है, पर वह विवाह के बाद एक ही दिन घंटे-आध-घंटे के लिये खोला जाता है; और उसमें कन्या का हस्तकौशल दिखलाने के लिये सिन्दूर से कुछ बेढंगे चित्र दीवार पर अंकित कर दिये जाते हैं, और उसकी मूर्ति-निर्माण-कला दिखाने के लिये गीले गोबर की तीन या पाँच पिंडियाँ दीवार पर चिपका दी जाती हैं, और सिंदूर से उन पर कुछ लकीरें बना दी जाती हैं।

लोग कह सकते हैं कि चमार के घर में चित्रशाला न रही होगी; पर गीत कहता है कि उसके दिमाग में तो थी ही। मस्तिष्क का यह विकास समाज की साधारण ऊँचाई की बात नहीं है।

इसी गीत में चमार अपने छोटे भाई की स्त्री पर, जिसने चित्र बनाया था, आसक्त हो जाता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि चित्रकला का वह मर्मज्ञ था। उस स्त्री को प्राप्त करने के लिये चमार अपने छोटे भाई को मार डालता है। तब वह स्त्री अपने मृत पति की लाश मँगवाती है और चन्दन की लकड़ी की चिता बनवाकर जेठ को गाँव में धर्म की आग लाने को भेजती है। वह चला जाता है, तब स्त्री चिता के पास खड़ी होकर कहती है:—

जौं हम होई सतवंती रे ना।
मोरे अँचरा भभकि उठे अगिया रे ना॥

उसके आँचल में से आग उत्पन्न होती है और वह चिता में बैठ कर जल जाती है। अपने देश में किसी समय चमार की स्त्री को भी अपने सत का गर्व होता था और वह उसे बाज़ी पर लगा देती थी। इस सचाई का पता लग जाने पर क्या उच्च जातियों का गौरव और अधिक नहीं बढ़ जायगा?

अब धर्म की आग क्या है, इसे भी समझ लेना चाहिए। प्राचीन काल में दिया सलाई नहीं थी। गाँव के लोगों को आग के लिये भटकना न पड़े, इसलिए गाँव के बीच में किसी स्थान में, एक चबूतरे पर गड्ढा खोदकर उसमें आग सुरक्षित रक्खी जाती थी। जो आग लेने आता था, वह कंडे या उपले का एक टुकड़ा उस आग में छोड़ भी जाता था, जिससे आग सदा जीवित रहती थी। होली के दिन उस आग की पूजा करके उस स्थान पर नई आग रख दी जाती थी, उसे धर्म की आग कहते थे। इसी तरह गाँव के चंदे से बनी हुई धर्म की एक कढ़ाई भी होती थी, जिसमें खौलते हुए तेल में हाथ डलवाकर सच-झूठ और चरित्र की सचाई जाँची जाती थी।

अब हिंडोले का एक गीत लीजिए—

गाय का दूध दुहकर रक्खा है, उसमें से भाप निकल रही है। यह देखकर पास खड़ी हुई बहन कहती है—

छोटी मोटो दुहनी दुधे कै,
बिना रे अगिनि भाप लेइ, बलैया लेउँ बीरन।
यहि दूध पिअइ बिरन मोरा,
बिरना लड़इ मुगलवा के साथ, ,, ,, ॥

निश्चय ही यह गीत अँग्रेजों के आने से पहले का है, जब मुगल ही बड़े वीर समझे जाते रहे होंगे। बहन अपने छोटे भाई को याद करके कहती है कि यही गरम-गरम दूध पीकर वह मुगल से लोहा लेता है।

अब एक विवाह का गीत सुनिए—

पिता कन्या के लिये वर खोजने निकलता है, तब कन्या अपने जीवन-संगी के चुनाव के बारे में अपने पिता की समझदारी पर विश्वास प्रकट करती है—

बाबा जे चलेन मोर बर हेरन पाट पितंबर डारी।
छोट देखि बाबा करबैं न करिहैं बड़ा नाहीं नजरि समाय॥

इतने ही से उसे संतोष नहीं होता, वह बोलकर भी अपने मन की बात पिता को बतला देती है—

अरे अरे बाबा सुघर वर हेरेउ हम बेटी तोहरी दुलारि।
तीनि लोक माँ हम बड़ि सुंदरि हँसी न करायेउ मोरि॥

पिता चारों ओर वर की खोज करके और उपयुक्त वर न पाकर लौट आता है। वह कहता है कि वर खोजना तो ऊसर में ककड़ी बोने जैसा काम है, जिसका पता ही नहीं होता कि वह तीती होगी या मीठी। वर अच्छा है, या बुरा, इसका भी पता विवाह के बाद ही लगता है। वह कहता है:—

ऊसरा मँ गोड़ि गोड़ि कँकरी बोवायउँ ना जानौं तीत कि मीठ।
देसवा निकरि बेटी तोर वर हेरौं ना जानौं करम तोहार॥
पूरब हेरेउँ पछुवाँ मैं हेरेउँ हेरेउँ मैं दिल्ली गुजरात।
तुमहिं जोग वर कतहुँ न पावा अब बेटी रहहु कुँवारि॥

इस पर कन्या कहती है:—

पूरब हेरेउ पच्छिम हेरेउ हेरेउ दिल्ली गुजरात।
चारि परग भुइयाँ नगर अजोध्या दुइ वर अहैं कुँवार॥

पिता उत्तर देता है:—

वै वर माँगैं बेटी घोड़ा औ हाथी माँगैं मोहर पचास।
वै वर माँगै बेटी नौलख दायज मोरे बूते देइ न जाइ॥

इस पर कन्या झुँझलाकर कहती है: —

जेकरे न होय बाबा हाथी औ घोड़ा नहिं होय मोहर पचास।
जेकरे न होय बाबा नौलख रुपिया ते वर हेरै हरवाह॥
खेत जोति आवै कुदार गोड़ि आवै बइठइ मुँह लटकाय।
उनहीं क तिलक चढ़ावा मोर बाबा वै वर दयजा न लेयँ॥

फिर कन्या समझाकर कहती है: --

आसन देखि बाबा डासन दीहा मुख देखि दीहा बीरापान।
अपनी संपति देखि दाइज दीहा वर देखि दीहा कन्यादान॥

क्या यह गीत इस बात का प्रमाण नहीं है कि गीतों की दुनिया में कन्याओं का विवाह उनके पूर्ण वयस्क हो जाने पर किया जाता था। जब वे अपने लिये वर कैसा हो, इसकी सलाह पिता को दे सकती थीं?

इसी प्रकार विवाह के पहले ही गीत में विवाह की एक ऐसी प्रथा का वर्णन मिलता है, जो अब बिलकुल लुप्त हो गई है। उसकी प्रारंभ की कुछ कड़ियाँ ये हैं:--

कौन की ऊँची अँटरिया सुरुज मुख छाई।
किन घर कन्या कुँवारी त दुलहो चाहिए॥
भितराँ से निकसीं मइया थार भरि मोती लिहे।
मोरे घर कन्या कुँवारी त दुलहो चाहिए॥

विवाह-प्रथा के क्रम-विकास के इतिहास में यह गीत किसी ज़माने की उस प्रथा की याद दिलायेगा, जब वर युवावस्था प्राप्त होने पर स्वयं गाँव-गाँव घूमकर और यह पुकारता हुआ कि "किसको दूल्हा चाहिए" अपनी जीवन-संगिनी को खोज निकालता था। यह प्रथा किसी कारण से लुप्त हो गई, तब कन्या स्वयं वर खोजने को निकली, जैसा सावित्री ने किया था। यह प्रथा भी लुप्त हुई तो पिता और कन्या दोनों मिलकर, स्वयंवर रचकर, वर का चुनाव करने लगे। इसमें भी दंगा फसाद का दोष आया तो पिता ने कन्या का कुल अधिकार ही छीन लिया, जैसा अब है।

इस प्रकार विद्वज्जन गीतों का सूक्ष्म अध्ययन करके अति प्राचीन हिन्दू जाति में प्रचलित कितनी ही प्रथाओं, भावनाओं और अनुभवों को प्रकाश में ला सकते हैं।

हिन्दुओं के उच्च वर्णों और जंगली जातियों के धार्मिक विश्वास, सामाजिक और घरेलू प्रथा, पारिवारिक विशेषताएँ, गर्भाधान, जन्म, विवाह तथा श्राद्ध आदि संस्कार, पर्व, त्योहार,

सार्वजनिक उत्सव तथा खानपान, रहन-सहन, वेश-भूषा, शकुन-अपशकुन, लोरियाँ, दंतकथा, कहावतें, मुहावरें, पहेलियाँ, झाड़-फूँक, जादू-टोना, ग्रामदेवता, कुलदेवता, जंतर-मंतर, ताबीज, कुदृष्टि या नज़र, संतों और उनके उपदेशों का प्रभाव आदि सैकड़ों विषय ऐसे हैं, जिनकी जानकारी हमारे लिये लाभदायक हो सकती है।

ज्ञान-प्रसार के साधन

गीत, भजन, कहावतें और पहेलियाँ गाँवों में ज्ञान-प्रसार के मुख्य साधन हैं। गाँववालों ने अपने अनुभवों को छंदों की छोटी-छोटी डिबियों में ढाल लिया है, जिन्हें वे कंठ में रक्खे रहते हैं और कंठ से कंठ को पहुँचाते रहते हैं; उनको न अक्षरों में लिख रखने की जरूरत होती है, न पुस्तकाकार छपाने की। अनुभवों को छंदों के साँचे में कौन ढाल देता है, इसका पता नहीं चलता। यह संसार की अद्भुत घटनाओं में एक घटना कही जायगी।

पहेलियों की रचना उनकी बुद्धि का एक विलक्षण चमत्कार है। न वे पाजामा पहनते हैं, न वह नित्य उन्हें देखने ही को मिलता है। पर किसी दिन किसी को पहने हुए देखकर उनके मुँह से आप से आप निकल पड़ा।

दुइ मुँह छोट एक मुँह बड़ा।
आधा मनई लीले खड़ा॥

कैसी विचित्र सूझ है। यह सूझ तो शहरवालों को होनी चाहिए, जो रोज़ अगर पहनते नहीं, तो देखते ज़रूर हैं, पर उनकी बुद्धि में कभी कौतूहल आया ही नहीं।

ग्राम-गीतों में कविता

मैं भी कभी कवि था, और उस समय था, जब जानता ही न था कि कवि किसे कहते हैं। अब थोड़ा-बहुत जानने लगा हूँ, तब कवि शब्द मुझे पहाड़-ऐसा भारी लगने लगा है, जिसका बोझ मैं उठा नहीं सकता, और अपना यह रहस्य मुझे ग्राम गीतों के परिचय के बाद ही मालूम हुआ है।

ग्राम-गीत तो हृदय की अनुभूतियों के शब्द-चित्र हैं। वे सीधे हृदय से निकलते हैं। मस्तिष्क का उतना ही हाथ है, जितना किसी घर को सजाने में मज़दूर का होता है। कविता में मस्तिष्क हृदय का मजदूर है। महाकवि मस्तिष्क का चाहे जैसा खेल दिखाए, पर वे वहीं प्रशंसा पाते हैं, जहाँ हृदय की गहराई में बैठकर कुछ कहते हैं, ग्राम-गीतों में मस्तिष्क का खेल बिल्कुल नहीं है, न छंद है, न तुक है, न मात्राओं की गिनती है। हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए, वे आपसे आप शब्द बनकर निकल आए हैं।

मुझे जो पहला गीत सुलतानपुर जिले में मिला था, उसे सुनकर मैं तो अवाक् रह गया था। हृदय की बारीक से बारीक नस को कौन छूता है और मस्तिष्क की सहायता बिना कैसे छूता है, इसका उत्तर तो मैं आज तक नहीं दे पाया हूँ। वह गीत यह है:—

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहबर।
रामा तेहितर ठाढ़ि हरिनिया हरिन क बिसूरइ॥
चरतै चरत हरिनवा हरिनिया से पूछइ।
रानी, की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ॥
नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ।
हरिना, आजु राजाजी के छट्ठी तोहैं मारि डरिहैं॥

पुत्र-जन्म के छठें दिन के उत्सव में हरिन मार डाला गया, तब—

मचियै बइठी कोसिल्ला रानी हरिनी अरज करइ।
रानी मसुवा तो सिझहि रसोइयाँ खलरिया हमैं देतिउ॥
डरिया से टँगबै खलरिया त हेरि फेरि देखब।
रानी, फिरि फिरि मन समुझाउब जनुक हरिना जीवइ॥

कौशल्या रानी ने उत्तर दिया—

जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देबइ।
हरिनी, खलरी क खँजड़ी मढ़ौबै त रामा मोर खेलिहैं॥

अब जंगल में क्या दृश्य उपस्थित हुआ—

जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ।
हरिनी ठौरि ढकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ॥

हरिनी को अपने पति की खाल से निकले हुए शब्द से भी प्रेम हो गया था। कैसा अद्भुत वर्णन है। करुण-रस का ऐसा अजस्र प्रवाह तो मुझे किसी कवि की कविता में नहीं मिला। जिस देवी के मुख से यह गीत निकला है, उसको पत्नी के हृदय का कितना सूक्ष्म ज्ञान था, यह गीत की एक-एक कड़ी से झलक रहा है।

स्थानाभाव से मैं गीतों में कविता के अधिक उदाहरण नहीं दे सकता। अंत में यही कहकर समाप्त करता हूँ कि ग्राम साहित्य हिन्दू समाज की अमूल्य निधि है, इसकी रक्षा होनी चाहिए और इसके द्वारा समाज को फिर उसकी पूर्वावस्था में ले आना चाहिए।

विन्ध्य-वन का एक जंगली गाँव

[बाण के हर्षचरित से]

वासुदेव शरण

बाण ने हर्षचरित के सातवें उच्छ्वास के अन्त में विंध्याचल के जंगल के एक वन-ग्राम का आखोंदेखा चित्र खींचा है। उस जंगली गाँव के चारों ओर वन-प्रदेश फैले थे। खेत बहुत विरल थे। किसान हल-बैल के बिना कुदाल से धरती गोड़कर बीज छितराकर कुछ बो लेते थे। जंगली रास्तों पर पानी की प्याउओं का अच्छा प्रबन्ध था। पास-पड़ोस के लोग कोयला फूँकने और लकड़ी काटने का काम करते थे। काफी लोग छोटे-बड़े शिकार से पेट पालते थे। वहाँ के निवासी जंगल में होनेवाले विविध सामान के बोझ लेकर और स्त्रियाँ जंगली फल बटोर कर इधर-उधर बेच आती थीं। किसानी का धन्धा करनेवाले कुछ लोग बंजर धरती तोड़कर उसमें खाद डालकर उसे उपजाऊ बना लेते थे। गन्ने के बड़े बड़े बाड़े यहाँ की विशेषता थी। जंगली बस्ती में घरों के चारों ओर काँटेदार बाड़ें थीं जिनके भीतर लोग रहते और अपने पशु बाँधते थे। फिर भी जंगली जानवरों द्वारा वारदातें होती रहती थीं। घरों के भीतर गृहस्थी चलाने के लिये बहुत तरह का जंगल में होनेवाला सामान, फल-फूल रूखड़ी आदि बटोर कर रख लिया गया था। अटवी-कुटुम्बियों के इस गाँव में सम्राट् हर्ष ने भी एक रात अपना पड़ाव किया।

बाण के प्रस्तुत किए हुए चल-चित्र का निकट से क्रमवार अध्ययन इस प्रकार है—

बन-बस्ती के चारों ओर के जंगली प्रदेश दूर से ही उस गाँव का संकेत कर रहे थे। जंगली धान्यों के खलिहानों में साठी चावल का भूसा जलाकर धुआँ किया जा रहा था। कहीं पुराने बीहड़ बरगदों के चारों ओर सूखी टहनियों के अंबार लगाकर गायों का बाड़ा बना लिया गया था। कहीं बघेरों ने बछड़ों पर वार किया था। उससे खीझ कर लोगों ने बाघ को फँसाने के लिये जाल (व्याघ्रयन्त्र) लगा रखा था। पुराने भारी बरगद के पेड़ों के चारों ओर सूखी डालों और गुद्दों का ढेर लगाकर गायों के लिये बाड़े बनाए गए थे। घूमकर गश्त लगानेवाले वनपालों ने बाहरी गाँवों के लकड़हारों के कुठार जबरदस्ती छीन लिए थे। एक जगह पेड़ों के बीच में चामुण्डा देवी का मण्डप बना हुआ था[1]।

वन-ग्राम के चारों ओर घोर जंगल के सिवाय और कुछ न था। स्वभावतः सब लोग कुटुम्ब का पेट पालने के लिये व्याकुल रहते थे। उसी चिन्ता में किसान केवल कुदाली से गोड़-कर धरती तोड़ते और खेत और खलिहानों के टुकड़े निकाल लेते थे। खुली जगह के अभाव में खेत छोटे (अल्पावकाश) ही थे और दूर दूर पर कायम थे। खेती के लिये बैल न थे।

१—चामुण्डा विंध्याचल प्रदेश की सबसे बड़ी देवी थी। बाण ने कादम्बरी में उसके मन्दिर का विस्तृत वर्णन किया है। कालान्तर में चामुण्डा की पूजा उत्तरी भारत के गाँव-गाँव में फैल गई। यह शबर-निषाद संस्कृति की बलि चाहनेवाली एक देवी थी।

भूमि कास से भरी हुई थी। काली मिट्टी की पटपड़ तह लोहे के तवे की तरह कड़ी थी। कुछ भी पैदा करने के लिये किसानों को छाती फाड़कर कुदाली भांजनी पड़ती थी, वही उनका सहारा था। जगह-जगह पेड़ों के कटने से जो ठूँठ बचे थे, वे फिर पत्रों का घना फुटाव लेने लगे थे। भूमि पर साँवाँ और छुईमुई (अलम्बुषा) का ऐसा घना जंगल छाया हुआ था और तालमखाने (कोकिलाक्ष) के क्षुप तो पैरों को ऐसा जकड़ लेते थे कि बोई हुई क्यारियों तक पहुँचना मुश्किल था, उन्हें जोतना-बोना तो और भी कठिन था। इसीलिए आवागमन कम होने से बननेवाली पगडंडियाँ भी दिखाई न पड़ती थीं। खेतों के पास ऊँचे मचान बँधे हुए कह रहे थे कि यहाँ जंगली जानवर लगते हैं।

जंगल और बस्ती के मार्गों पर प्याउओं का विशेष प्रबन्ध था। ये प्याऊ क्या थीं, पथिकों के रहने, ठहरने, आराम करने के विश्राम-गृह थे। पेड़ों के झुरमुट देखकर प्याऊ के स्थान बना लिए गए थे। बटोही वहाँ आते और नए पल्लवों की टहनी तोड़कर पैरों की धूल झाड़कर छाया में बैठते। वहीं पर छोटी कुइयाँ खोद कर उसे नागफनी से घेर दिया गया था और दूर से पहचान कराने के लिये जंगली साल के फूलों के गुच्छे टाँग दिए गए थे। कुइयाँ के पास ही प्याऊ की मड़इया घने घास-फूस से छा ली गई थी। बटोहियों ने सत्तू खाकर जो सकोरे फेंक दिए थे, उन पर जंगल की बड़ी नीली मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। पास में ही राहगीरों ने जामुन खाकर गुठलियाँ डाल दी थीं। कहीं कदम्बों के फूलों से लदी हुई टहनियाँ तोड़ कर धूल में फेंक दी गई थीं।

इन प्याउओं के भीतर जल का प्रबन्ध बड़े शौक से किया गया था। घड़ौंचियों पर प्यास बुझाने के लिये छोटी लम्बोतरी मिट्टी की गगरियाँ रक्खी हुई थीं, जिनके ऊपर छोटे काँटों जैसी बुन्दकियों की सजावट बनी थी[1]। बालू की बनी हुई कलसियों में से पानी रिसकर गीली पेंदी से टपकता हुआ पथिकों की थकान मिटाता था।[2] गीली सिरवाल घास में लपेटे हुए बड़े माटों का जल खूब ठंडा हो गया था।[3] जलकुम्भों में जल रीता करके लाल शर्करा भर

१—यहाँ बाण ने कर्करी, कलशी, अलिंजर, उदकुम्भ और घट इन पाँच मिट्टी के बर्तनों का उल्लेख किया है, जो एक दूसरे से भिन्न होने चाहिएँ। कर्करी को कंटकित कहा है। अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की खुदाई में मिले कुछ गुप्तकालीन पात्रों को देखने से कंटकित विशेषण की सार्थकता समझ में आती है। उनके बाहर की ओर कटहल के काँटे जैसा अलंकरण बना है।

२—कलसी कर्करी से कुछ बड़ी होती थी। इनमें पीने का पानी न भरा जाता था, बल्कि ये पौशाला में लटकाई रहती थीं और उनसे रिस-रिस कर टपकता हुआ पानी पथिकों के सिर आदि अंगों की थकान मिटाता था।

३—अलिंजर महाकुम्भ या बड़ा माट था। बाण ने इसी का दूसरा नाम 'गोल' दिया है (१५६)। और धवलगृह के वर्णन में गोलों को सरस शैवल में लपेटा हुआ लिखा है (सरसशैवलवलयितगलद्गोलयन्त्रके)। आज भी बड़े माटों को जिनमें कई घड़े पानी आता है 'गोल' कहते हैं। उनके चारों ओर बालू बिछाकर गीली सिरवाल घास लपेट देते हैं। इन्हीं में से ठंडा जल निकालकर छोटे पात्र में करके पिलाया जाता है।

कर प्याऊ में रक्खी गई थी, और शरबत के लिये थोड़ी-थोड़ी निकाली जा रही थी। उससे ठंढक फैल रही थी, जान पड़ता था मानो शिशिर ऋतु आ गई हो।[1] प्याऊ में कुछ घड़े ऐसे थे जिनके मुँह गेहूँ की नालियों या तिनकों के ढक्कन से ढँके थे। उनके ऊपर ग्रीष्म में जल को सुवासित करने के लिये पाटल के फूलों की कलियाँ रखी गई थीं।[2] प्याऊ के भीतर लकड़ी की थूनियों के सिरों पर लगाए आमों के फलों की डालें झूल रहीं थीं और उनके झुराते हुए फलों को हरे पत्तों पर पानी का छींटा देकर ताजा रक्खा जा रहा था। झुण्ड के झुण्ड यात्री प्याऊ में आकर विश्राम करते और पानी पीकर चले जाते थे। अटवी के प्रवेश मार्गों पर बनी इन प्रपाओं की ठंढक से गर्मी कुछ कम हो रही थी। परन्तु कोयला फूँकने के लिये उपयोगी लकड़ी के ढेरों में आग लगाकर अंगार बनानेवाले लुहार फिर उतनी ही गर्मी पैदा कर देते थे।

पड़ोसी प्रदेश में रहनेवाले निकटवासी कुणबी लोग[3] सब ओर से जंगल में लकड़ी बीनने के लिये आ रहे थे। वे अपने घरों में खाने का आटा सीधा आदि सामान छिपाकर रख आए थे और बुड्ढों को रखवाली के लिये बैठा आए थे। लकड़ी काटने के लिये कुल्हाड़ा भांजने की जो कड़ी मेहनत थी, उसे बरदाश्त करने के लिये अपने शरीर पर उन्होंने आवश्यक तेल आदि की मालिश कर रखी थी। उनके कन्धों पर भारी कुठार रक्खे थे और गले में कलेवे की पोटली (प्रातराशपुट) बंधी लटक रही थी। चोरों के डर से बिचारों ने फटे कपड़े पहन रक्खे थे। उनके गले में काले बेंत की तिहरी माला लपेटी हुई थी और उसी से पानी की लम्बोतरी घरियाँ जिनके मुँह पर डाट लगी हुई थी, लटकी हुई थीं।[4] लकड़ी लादने के लिये उनके आगे-आगे बैलों की जोड़ी चल रही थी।

१—यों भी पाटल शर्करा या लाल शक्कर जाड़े ही में बनाई और खाई जाती है। बाण ने पाटल शर्करा (लाल शक्कर) और कर्क शर्करा (सफेद शक्कर) इन दोनों शब्दों का अन्यत्र प्रयोग किया है।

२—कट कहते हैं गेहूँ की नाली या उससे बुना हुआ पर्दा। नाली बुनकर ढक्कन बनाने का रिवाज अभी तक है। हार का अर्थ यहाँ कंठाभरण या माला न होकर लेजानेवाला, रखनेवाला (हरतीति हारः) ठीक है। पाटल पुष्प की कली को सड़ने के डर से जल के भीतर न डालकर जल पर तैरते हुए तृण के ढक्कन पर रखकर जल को सुवासित करने की विधि की ओर संकेत है।

३—कुटुम्बिक लोक शब्द पारिभाषिक ज्ञात होता है, जिसका अर्थ कुणबी जाति से था।

४—मूल पाठ बोटकुटैः जान पड़ता है। यह कठिन पाठ था, जिसे पीतकुटैः द्वारा सरल बनाया गया। 'बोट' हिन्दी में अभी तक चालू शब्द है, जिसका अर्थ है लम्बोतरा कम चौड़े मुँह का मिट्टी का बर्तन। 'बोट कुट'=लंबोतरा कम चौड़े मुँह का घड़ा। इस प्रकार की बोट अजन्ता गुफा १ में चित्रित है (औंधकृत अजन्ता, फलक ३९, बुद्ध की उपासना करती हुई स्त्रियाँ शीर्षक चित्र में ऊपर दीवाल गिरी में लंबोतरा पात्र 'बोट-कुट' रक्खा है।)।

जंगल में तरह-तरह के शिकारी थे। बड़े खूँखार जानवरों (श्वापद) का शिकार करने-वाले व्याध वन-ग्राम के बाहरवाले जंगल में विचर रहे थे। उनके हाथ में पशुओं की नसों की डोरियां, जाल और फन्दे थे।[१] वन के हिंसक जानवरों (साउजों) के शिकारियों ने ढुकने के लिये खूब मोटी टट्टियाँ लगाई थीं। वे कूटपाशों की लपेटी हुई गेंडुरी हाथ में लिए थे।[२] दूसरे तरह के बहेलिये चिड़ियाँ फँसानेवाले थे जो कंधे पर वीतंसक जाल या डला लटकाए थे। उनके हाथों में बाज (ग्राहक), तीतर (क्रकर), और कपिंजल आदि के पिंजड़े थे। वे चिड़ियों की टोह में गाँव के आस-पास मंडरा रहे थे। उनके अलावा चिड़ीमारों के बच्चे या छोटे चिरहँटे (पाशिक शिशु) बेलों पर लासा लगाकर गौरैया पकड़ने के व्योंत में इधर से उधर फुदक रहे थे। चिड़ियों के शिकार (विहग मृगया) के शौकीन नवयुवक शिकारी कुत्तों को, जो बीच-बीच में झाड़ी में से उड़ते हुए तीतरों की फड़फड़ाहट से बेचैन हो उठते थे, पुचकार रहे थे।

गाँव के लोग वन की पैदावार के बोझ सिर पर उठाए जा रहे थे। कोई सेहुण्ड (शीधु) की छाल का बोझ लिए था; किसी के पास धाय (धातकी) के ताजा लाल फूलों की बोरियाँ थीं, कोई रुई, अलसी, सन के मुट्ठों का बोझ लिए थे। शहद, मोम, मोर के पंख, खस (लाम-ज्जक), कत्थे की लकड़ी, कूठ[३] और लोध के बोझ सिर पर उठाए बोझिए जा रहे थे।[४] जंगली फल बीन कर उन्हें बेचने की चिन्ता में जल्दी जल्दी डग रखती हुई गँवई स्त्रियाँ (ग्रामे-यिका) आस-पास के गावों को जा रही थीं।

ज्ञात होता है जंगल के कुछ हिस्से में तो झूम की खेती[५] होती थी, जहाँ आदिमवासी लोग हल के बिना सिर्फ कुदाली से गोड़ते थे। लेकिन कुछ किसान हल-बैल की खेती भी करने

१—गृहीतमृगतन्तुतन्त्रीजालवलयवागुरैः। मृगतन्तु तन्त्री=पशुओं के तन्तु या स्नायुओं की बनी तन्त्री या डोरी।

२—श्वापदव्यधनव्यवधानबहलीसमारोपितकुटीकृतकूटपाशैः, इस समास में कई पद पारिभाषिक और गूढ़ हैं। श्वापद=हिंसक जन्तु। व्यधन=भोंकना, छेदना अथवा शिकार। व्यवधान का अर्थ पर्दा है। यहाँ उसका ठीक अर्थ वे टहनियाँ हैं, जिन्हें शिकारी ढुकने के लिये रखते हैं। बहल का अर्थ मोटा या घना, बहलीसमारोपित=मोटी या घनी लगाई हुई। तात्पर्य यह कि शिकारियों ने बड़े जानवरों के शिकार के लिये मोटी ढुकने की टाटी लगाई थीं और मजबूत जमीन में खूटियों से गाड़े जानेवाले जाल लगा रखे थे। हिरन आदि के लिये मामूली जाल या रस्सियों के फन्दे थे।

३—कुष्ठकूट यह एक प्रकार का पौधा है जिसकी जड़ सुगन्धित और ओषधि के काम आती है। भारतवर्ष का कूठ का व्यापार प्राचीन काल में रोम और यूरुप के साथ प्रसिद्ध था।

४—बाण ने तीन प्रकार के बोझों के लिये तीन शब्द प्रयुक्त किये हैं—सम्भार=गाड़ी का बोझा। भार=सिर का बोझा। भारक=जानवर पर लदा हुआ बोझा।

५—आदिवासी जंगलों को जलाकर जमीन को कुदाली से गोड़कर जो खेती करते हैं वह झूम की खेती कहलाती है।

वाले थे। वे हट्टे-कट्टे जवान बैलों को जोड़कर पुराने खाद-कूड़े के ढेर लदिया गाड़ियों पर लादकर रूखे खेतों में लेजाकर डाल रहे थे, जिनकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो चुकी थी।[1] उनके डगमग पहिए घिसटते हुए चूँ-चूँ कर रहे थे और हाँकनेवाले गाड़ीवान कूड़े-धूल से लथ-पथ बैलों को डाँट रहे थे।

गन्नों के लहलहाते हुए चौड़े बिस्रासवाले पौधों से भरे ईख के बाड़े गाँव की हरियाली बढ़ा रहे थे। खेतों के रखवाले जब गन्नों में छिपे हुए हिरनों को ताक कर बैलों के हाँकने का डंडा उनकी ओर चलाते तो हिरन ऊँची बाँस की बाड़ के उस पार कूदकर निकल जाते थे। जंगली भैंसों के लम्बे हड्ड खेत में बिजूके की तरह गाड़े गए थे। उनसे डरकर खरहे गन्ने के ऊँचे अंकुरों को ही कुतर डालते थे।[1]

वन-ग्राम के घर एक दूसरे से काफी फासले पर बने थे। उनके चारों ओर मरकत के जैसे चिकने हरे रंगवाली सेहुँड (स्नुहा) की बाढ़ लगी थी। धनुष बनाने के योग्य कड़े पतले बाँसों की बँसवारी पास में उग रही थी। करंजुए के काँटेदार वृक्षों की पंक्ति से उनमें रास्ता बनाकर घुसना मुश्किल था। एरंड, बचा, वंगक (सम्भवतः बैंगन), तुलसी, सूरण कन्द, सहिंजन (शिग्रु), गँठिवन, (ग्रन्थिपर्णी), गरबेरुआ (गवेधुका), और मुरुआ धान (गर्मुत्) के घने गुल्म घरों के साथ लगी हुई बाड़ियों में भरे हुए थे। ऊँची बल्लियों पर चढ़ाई हुई लौकी की बेलें फैलकर छाया दे रही थीं। बेरी के गोल मंडपों के नीचे खैर के खूँटे गाड़कर बछड़े बाँध दिए गए थे। मुर्गों की कुकुड़ूकूँ से पहचान होती थी कि घर कहाँ बसे हैं। आँगन में लगे अगस्त्य-वृक्ष के नीचे चिड़ियों को चुग्गा खिलाने और पानी पिलाने की हौदी बनी हुई थीं और लाल बेरों की चादर-सी बिछी थी। घरों में दीवारें बाँस के फट्टे, नरकुल और सरकंडों को जोड़ कर बना ली गई थीं। कोयले के ढेरों पर बल्वज घास की छपरी छायी हुई थीं जिनके मण्डप पलास के फूल और गोरोचना से सजाए गए थे। उन घरों में चतुर गृह-स्त्रियों ने कई तरह की घर-गृहस्थी के काम की चीजें बटोकर रख छोड़ी थीं, जैसे सेमल की रुई, नरसल[2] (नलशालि), कमल की जड़ या कमल ककड़ी (शालूक), खण्ड शर्करा, कमल के बीज या मखाने, बाँस, तंडुल और तमाल के बीज। चटाइयों पर गम्भारी[3] के ढेर (जड़, पत्ती फूल आदि) सूख रहे थे और धूल पड़ने से कुछ मटमैले लग रहे थे। खिरनी (राजादन) और मैनफल (मदनफल)

१—ऊपर के देहाती भावों को व्यक्त करनेवाली बाण की शब्दावली की बानगी इस प्रकार है—युक्तशूरशकुरशाक्वराणां पुराणपांसुलिकरकरीपकूटवाहिनीनां धूर्गतधूलिधूसरसैरिभ-सरोषस्वरसार्यमाणानां संक्रीडच्चटुलचक्रचीत्कारिणीनां शकटश्रेणीनां संपातैः संपाद्यमान-दुर्बलोर्वीविरूक्षक्षेत्रसंस्कारम्।

२—नलशालि=शालिभेद (शंकर)। सम्भव है नलशालि का अर्थ नरसल हो जिसे नरकुल भी कहते हैं।

३—काश्मर्य=गम्भारी। एक बड़ा पेड़ जिसकी जड़ ओषधि या रसायन में काम आती है। इसकी गिनती दशमूल में की जाती है।

सुखाकर रक्खे गए थे। महुए का चुआया आसव और मद्य भी प्रायः हर घर में मौजूद था। प्रत्येक घर में कुसुम्भ, कुम्भ और गंडकसूल भी थे।[1] अटवी कुटुम्बियों के उन घरों में रवाँस (राजभाषा) खीरा (त्रपुष), ककड़ी, कोंहड़ा और लौकी भी लगी थीं। घरों में बन-बिलाव, नेवले, मालुधान और शालिजात (अज्ञात वन्य पशु) के बच्चे पले हुए थे।

१—कुसुम्भ को टीकाकारों ने कुसुम्भ का फूल माना है, पर उससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः यहाँ कुसुम्भ का अर्थ जल का छोटा पात्र है (देखिए मनिअर विलियम्सकृत संस्कृत कोश, कुसुम्भ=The water pot of the student and Sanyasin. कुम्भ-धान्य रखने का माट (तुलना कीजिए, कुसूलधान्यको वा स्यात् कुंभीधान्यक एव वा। मनु)। गण्डकुसूल शब्द महत्वपूर्ण है। करीब दो ढाई फीट व्यास की छः इंच ऊँची मिट्टी की चकरियों या मांडलों को ऊपर नीचे रखकर गण्डकुसूल बनाया जाता था। अहिच्छत्रा के देहातों में पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये अभीतक बरते जाते हैं। वहाँ इन्हें गाँड कहा जाता है, जैसे बंगाल में उन्हें मांडल कहते हैं। अँग्रेजी में इन्हें ring wells कहा गया है। अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, राजघाट आदि प्रायः सभी प्राचीन स्थानों की खुदाई में इस प्रकार के गंडकुसूल पाए गए हैं। धान्यकुसूल, अस्थायी जलकूप और गूथकूप इन तीनों कामों के लिये पकाई मिट्टी की चकरियों का प्रयोग प्रचीन गृहवास्तु में होता था।

भोजपुरी के सम्बन्ध तथा सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम के रूपों की व्युत्पत्ति

उदयनारायण तिवारी

आदर्श (स्टैंडर्ड) भो० पु० में सम्बन्धवाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप उपलब्ध हैं :—

	ए० व०	ब० व०
अवि०	जे, जवन्, जौन्, जिन्हि	जे, जवन्, जौन्, जिन्हि, जिन्हन्, जिन्हनी, लोग् या सभ्
वि०	जे, जवना, जौना, जेह्, जिन्हि	ऊपर के ही सब रूप तथा जेह लोग्, या सभ् ।

सम्बन्ध (अवि०) जेकर, जेह्कर, जिन्हिकर ।

सम्बन्ध (वि०) जेकरा, जेह्करा, जिन्हिकरा ।

गोरखपुर की उत्तरी आदर्श भो० पु० तथा आज़मगढ़, बनारस एवं मिर्जापुर की पश्चिमी भो० पु० में भी, इस सर्वनाम के प्रायः यही रूप मिलते हैं । हाँ, राँची की नगपुरिया या सदानी भो० पु० में बहुवचन में 'लोग' या 'सभ' के स्थान पर 'मन' जोड़ दिया जाता है । हिन्दी (खड़ी बोली) में यही सर्वनाम 'जो' हो जाता है ।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'जे' इसी रूप में मागधी अपभ्रंश से प्रसूत मैथिली, मगही, बंगला तथा उड़िया में भी मिलता है । असमिया में इसका रूप जि (उच्चारण ज़ि) हो जाता है । इस सर्वनाम की उत्पत्ति प्रा० भा० भा० 'यकः' से निम्नलिखित रूप में हुई है:—

यकः मा० प्रा० यके > जए > जै > जे असमिया के जि (ज़ि) की उत्पत्ति प्रा० भा०भा० यः से हुई है ।

यह सर्वनाम 'बौद्ध गान ओ दोहा' में भी मिलता है । यथाः—

जे ज आइला ते ते गेला (चर्या ७)

जो (लोग) आए वे गए ।

आधुनिक भो० पु० के विकारी रूप 'जेह्' का मूल प्राचीन भो० पु० की तृतीया का रूप 'जेह्' है । इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० भा० के यस्य से निम्नलिखित रूप में हुई है:—

यस्य>जस्स>जाह ।

यह जाह ही वस्तुतः जे के 'ए' के कारण जेह, जेह् में परिणत हो गया है। इसकी तुलना प्राचीन बंगला के आदरप्रदर्शक रूप जेहा से की जा सकती है।

जिन्ह, जिन्हि की उत्पत्ति जाणं से हुई है। यह जाणं=येषां के; किन्तु इस पर तृतीया के बहुवचन के रूप येभिः>जेहि का भी प्रभाव है।

जवन तथा जौन रूप प्रश्नवाचक सर्वनाम के कवन तथा कौन रूपों के ही समान हैं। इनकी उत्पत्ति यः पुनः से निम्नलिखित रूप में हुई है:—

यः-पुनः>ज-पुण>जउण>जउन>जवन।

सम्बन्ध कारक (अविकारी) के रूप

जेकर, जेह्कर—जे+कर तथा जेह्+कर के और विकारी रूप जेकरा तथा जेह्करा वस्तुतः अविकारी रूपों के ही सबल रूप (Strong forms) हैं।

सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम

आदर्श भो॰ पु॰ में सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप उपलब्ध हैं:—

	ए॰ व॰	ब॰ व॰
अवि॰	से, ते, तवन तौन	सेह्, से, तवन, तौन, लोग या सभ।
वि॰	ते, तवना, तौना, तेह, तिनि, तिन्हि	ऊपर के ही सब रूप

सम्बन्ध (अवि॰) तेकर्, तेह्कर्, तिन्हिकर्, सेकर्, सेह्कर्

सम्बन्ध (वि॰) तेकरा, तेह्करा, तिन्हिकरा, सेकरा, सेह्करा

सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम के ऊपर के रूप भी सम्बन्धवाचक सर्वनाम की भाँति ही प्रायः गोरखपुर की उत्तरी आदर्श भो॰ पु॰ तथा आजमगढ़, बनारस एवं मिर्जापुर की पश्चिमी भो॰ पु॰ में मिलते हैं, राँची की नगपुरिया अथवा सदानी भो॰ पु॰ में इसमें भी, बहुवचन में, 'लोग' या 'सभ' के स्थान पर 'मन' जोड़ दिया जाता है। हिन्दी में यही सर्वनाम सो रूप में मिलता है।

व्युत्पत्ति

प्राचीन भो॰ पु॰ में इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं:—

	ए॰ व॰	ब॰ व॰
कर्ता	से, ते	तिनि, तिन्हि
अन्य कारक	तेह, ता	ऊपर के ही रूप।

भोजपुरी सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम से इसी रूप में मैथिली, मगही, बंगला तथा उड़िया में मिलता है। असमिया में इसका रूप सि (उच्चारण खि) हो जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रा॰ भा॰ भा॰ सकः से निम्नलिखित रूप में हुई है:—

सकः>मा० प्रा० * शके>*शगे>शए>शै>शे। यह शे ही वस्तुतः नव्य अथवा आधुनिक मागधी भाषाओं में से में परिवर्तित हो गया है।

आधुनिक ब्रजभाषा तथा नेपाली में यह सर्वनाम सो रूप में मिलता है। यह दामोदर पण्डित कृत "उक्तिव्यक्ति प्रकरणम्" की प्राचीन कोसली (अवधी) में भी वर्तमान है। यथा:—

जो परकेम्हं बुरुअ चिंत, सो आपणुकेहं तैसें मा (मं) तन्यः परस्य कृते विरुद्धं चिन्तयति सः आत्मानः कृते तादृशमेव मन्त्रयते।

इस सो की उत्पत्ति टर्नर के अनुसार प्रा० भा० भा० सो' (= स'-उ) से हुई है। (दे० नेपाली डिक्शनरी पृ० ६२२)। प्राचीन तथा मध्ययुग के बंगला के वैष्णव गीतों में भी यह सो सर्वनाम वर्तमान है। यह निश्चित रूप से पछांही है तथा शौरसेनी अपभ्रंश के साथ पूरब में भी पहुँच गया है। तुलसीदास के "रामचरित मानस" में सोई शब्द का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। इसकी उत्पत्ति स—एव से हुई है।

भो० पु० ते की उत्पत्ति प्रा० भा० भा० तत्—कः से प्रतीत होती है। इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश के रूप *तेहँ (प्रा० भा० भा० तेषाम्>तेसं, तेसँ, तेहँ) से भी सम्भव है। प्राचीन असमिया में, इसके लिये, अनुनासिक रूप तेहों के साथ-साथ निरनुनासिक रूप तेहो भी मिलता है और यही आधुनिक असमिया के तेओं रूप का मूल है। आधुनिक नेपाली में यह त्यो रूप में वर्तमान है।

कर्ता कारक, बहुवचन का ते रूप, प्राचीन तथा मध्ययुग की बँगला में भी मिलता है। यथा:—

जे सचराचर तिअस भमन्ति।
ते अजरामर किम्पि न होन्ति।

अर्थात् जो योगी तीनों लोकों तथा स्वर्ग में भ्रमण करते हैं। वे कदापि अजर-अमर नहीं होते। (चर्या पिटक)

अ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार यह 'ते' संस्कृत का रूप हो सकता है अथवा इसके मूल तृतीया के रूप तेहि, तेही हैं जो बाद में कर्ता के बहुवचन के रूप ते में परिवर्तित हो गए हैं।

भो० पु०, ए० ब० सहसम्बन्धवाची सर्वनाम के अविकारी रूप तवन, तौन वस्तुतः सम्बन्धवाचक सर्वनाम जवन, जौन के ही समान हैं। ये=ता+अउन् के और ये कवन्, कौन से ये मिलते हैं।

विकारी ए० ब० के रूप तवना तथा तौना वस्तुतः तवन् तथा तौन् के ही सबल रूप (Strong form) हैं। किन्तु तेह—(यह जेह का समानान्तर रूप है)=ते+ह। भो० पु० तिनि, तिन्हि (बं० तिनि) की उत्पत्ति प्र० ते+तृ० तेहि+ष० ताणं (प्रा०) से हुई है।

अवि० तथा वि०, ब० ब० के रूप तिन्हन् तथा तिन्हनी=तिन्ह्+ष० के ब० ब० का प्रत्यय—अन्∠आनाम्।

सम्बन्ध कारक के अवि० तथा वि० रूप **तेकर्, तेह्कर, तिन्हि्कर, सेकर,** तथा **सेह्कर** = **ते** + **कर, तेह्** + **कर, तिन्हि्** + **कर्** तथा **से** + **कर्** तथा **सेह्** + **कर्** के तथा इनके सहयोगी विकारी रूप **तेकरा, तेह्करा, तिन्हि्करा, सेकरा** आदि सबल रूप हैं।

टिप्पणी १. तवन् का प्रयोग विभिन्न क्रियाओं के साथ-साथ स्त्रीलिङ्ग तथा पुंलिङ्ग, दोनों में, समान रूप से होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त, आधुनिक आदर्श भो० पु० में, कर्ता के ए० ब० स्त्रीलिङ्ग में **तवनि** का भी प्रयोग होता है। इसका वि०, ए० ब० का रूप **तवनी** तथा ब० ब० का रूप **तवनिनि** होता है।

पारिभाषिक शब्द तथा संकेत चिह्न

इस लेख में निम्नलिखित पारिभाषिक शब्द तथा संकेत चिह्न प्रयुक्त हुए हैं:—

सम्बन्धवाचक सर्वनाम=Relative Pronoun

सहसम्बन्धवाचक सर्वनाम=Co-relative Pronoun.

अवि० =अविकारी रूप=Direct form or Nominative.

वि० =विकारी=Oblique form.

भो० पु०=भोजपुरी

>= बन गया है, अथवा हो गया है।

∠ = बना है अथवा आया है।

प्रा० भा० आ०=प्राचीन भारतीय आर्यभाषा= G. I. A.

मा० प्रा० =मागधी प्राकृत

= बराबर है

/ = स्वराघात

* = कल्पित अथवा बनाया हुआ शब्द (Reconstructed word)

ए० व० =एक वचन

ब० व० =बहुवचन

प्र० = प्रथमा

तृ० = तृतीया

ष० = षष्ठी

प्रा० = प्राकृत

—:०:—

बैल-सम्बन्धी कुछ शब्द

हरिहर प्रसाद गुप्त

हिन्दी साहित्य और भाषा के सेवकों के सम्मुख आज सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है हिंदी की जनपदीय बोलियों के साहित्य और भाषा का अध्ययन। हमारे साहित्य का यह अंग अभीतक लगभग अछूता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित कितना अपार शब्दभांडार है हमारे ग्रामों में, इसका अनुमान लगाने के लिये ही पाठकों के सम्मुख केवल बैल से सम्बन्धित शब्दावली प्रस्तुत की जा रही है। यह संग्रह आज़मगढ़ ज़िले के पश्चिमी भाग तहसील फूलपुर से किया गया है। इस संग्रह में लगभग ११० शब्द तथा मुहावरे हैं। पारिभाषिक दृष्टि से तो यह संग्रह महत्वपूर्ण है ही, शब्दरचना तथा व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी यह अत्यंत उपादेय है।

आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न जनपदों से इस प्रकार की सामग्री एकत्र की जाय और उसका तुलनात्मक अध्ययन करके खड़ी बोली के साहित्यिक प्रयोग के लिये उसका रूप निश्चित किया जाय। इस कार्य से हमारी भाषा का कोश तो समृद्ध होगा ही हमें हिंदी भाषा के विकास के अध्ययन की अतुल सामग्री प्राप्त हो सकेगी। आज तो हमारे पास न जनपदीय साहित्य का संग्रह है, न कोई उत्तम कोश है। व्युत्पत्ति का वैज्ञानिक अध्ययन तो किया ही नहीं गया है। कुछ विद्वानों ने अवधी, भोजपुरी तथा ब्रजभाषा के विकास पर कार्य अवश्य किया है, कुछ लोगों ने लोक-साहित्य पर भी कार्य किया है, पर क्षेत्र की विशालता को देखते हुए ये कार्य श्रीगणेश मात्र हैं। शब्दों के संग्रह की दृष्टि से स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन की 'बिहार पिज़ैंट लाइफ़' एक अमूल्य कृति है; वस्तुतः उसी ने मुझे इस संग्रह की प्रेरणा दी। इस कृति के अनुकरण पर हमारे विद्यार्थी प्रत्येक जनपदीय क्षेत्र का संग्रह तैयार कर सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार के कार्य ही हमें और हमारे साहित्य को जन-जीवन के संपर्क में ले आ सकते हैं। जब तक हमारे छात्र अनन्त काल से बहती हुई जन-जीवन की इस धारा में अवगाहन न करेंगे तब तक लोक भाषा और साहित्य का अटूट भांडार उनके हाथ न लगेगा। जिस प्रकार भारत के नवनिर्माण के लिये ग्राम-जीवन का अध्ययन और उत्थान अनिवार्य है, उसी प्रकार भारत की राष्ट्रभाषा की समृद्धि के लिये जीवन से सम्बन्धित लोक-भाषा और लोक-साहित्य का अध्ययन और उत्थान भी अनिवार्य है। हमें शीघ्र से शीघ्र अपनी सारी शक्ति से इस अपूर्व खोज की ओर जुट जाना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन बैलों के जीवन से संबंध रखता है, इसमें उनकी जाति, रंग, रूप, अवस्था, स्वभाव तथा उनके पालन-पोषण से संबंधित शब्दावली का संकलन है। पाठकों की सुविधा के लिये नए शब्दों को मोटे टाइप में कर दिया गया है।

जाति के आधार पर बैलों के भेद

बैलों की साधारणतः नीचे लिखी जातियाँ इस भाग में मिलती हैं—

देवहटिया—ये **देवहा** (देववहा-सरजू नदी) के आस-पास के बैल होते हैं। इन बैलों का **हिक्का** (पीठ से लेकर कंधे तक का भाग) चौड़ा और कमर पतली होती है। इनकी **मुतान** (मूत्रस्थान) या **घुच्छी** एक दम पेट से सटी रहती है। इनकी पूँछ लंबी होती है। ये मज़बूती के लिये प्रसिद्ध हैं। इनकी मज़बूती की विशेषता प्रदर्शित करने के लिये इन्हें **'लोहे क गाँठ'** कहते हैं। इनकी ऊँचाई चौदह **मूठो (मुट्ठी)** होती है।

ऊँचाई नापने का ढंग यह है कि पिछले पैरों के **कूल्हों** से पैर के निचले भाग तक एक लकड़ी से नापते हैं। इस लकड़ी को मूठी की नाप से नाप लेते हैं, वही नाप बैल की समझी जाती है।

चम्मली—चंबल नदी के आस-पास के बैल चम्मली कहलाते हैं। ये सोलह से अठारह मूठी तक ऊँचे होते हैं। इनकी सींगें छोटी और ऐंठी हुई होती हैं। ऊँचाई के कारण ये गाड़ी के योग्य होते हैं।

ददरिहा—ददरी के मेले से आने के कारण इनका यह नाम है। इनकी मुतान बड़ी होती है। ये भी सोलह मूठी ऊँचे होते हैं। किंतु शक्ति में ये चम्मली से कम होते हैं और जल्दी बुड्ढे हो जाते हैं।

गोमतिहा—ये गोमती नदी के आस-पास पाए जानेवाले बैल हैं। इनका हिक्का आगे को झुका रहता है। ये चौदह से सोलह मूठी ऊँचे होते हैं। ये बड़े मज़बूत होते हैं।

लेहड़िहा—बहराइच-पीलीभीत की ओर से कुछ लोग बैलों के झुंड लेकर बेचने के लिये आते हैं। बैल के इस झुंड को **लेहड़** या **लेहड़ो** कहते हैं। इन बैलों को **लेहड़ी, डेहरी** या **अहरी** बैल कहते हैं। डेहरी के मालिक को **नायक** कहते हैं। लेहड़ी से बैल छाँटने को **लेहड़ी बेराइब** (बेराना सं० वृ-) कहते हैं।

पुरबिहा—पूरब से आनेवाले बैलों के लिये प्रयुक्त होता है।

पछुमहा—पश्चिम से आनेवाले बैलों के लिये प्रयुक्त होता है।

रंग के आधार पर बैलों के भेद

बैलों के कुछ नाम उनके रंग के आधार पर पड़ जाते हैं। सफेद बैल को **धँवरा** या **धवँर चाँदी** कहते हैं। पक्की **बद्दर** (बेर सं० बदर) के समान रंगवाले बैल को **बद्दरिया** कहते हैं। गेहूँ से मिलते-जुलते रंगवाले बैल को **गोहुँवन** कहते हैं। हलके काले रंगवाले बैल को **काँसड़** (सं० कासर=भैंसा, सांड) कहते हैं। जिन बैलों का **कान्ह** (कंधा सं० स्कंध) काला होता है उन्हें **करकन्हा** (सं० काल+स्कंध) कहते हैं। ऐसे बैल अच्छे माने जाते हैं।

रूप के आधार पर बैलों के भेद

बैलों के रूप की विशेषता के अनुसार भी उनके नाम पड़ जाते हैं। जिस बैल के ललाट पर दोनों भौं के बीच भँवर होती है उसे **भँवरिहा**, (सं० भ्रमरी) **सवँखिहा** (सं० समक्ष) या **सौंफिहा** कहते हैं। यह बैल **पइलगहा** (पैवाला) अर्थात् दोषयुक्त समझा जाता है। जिस बैल की जिह्वा पर सफेद धब्बा होता है उसे **समुन्नर सोख** (समुद्र सोख) कहते हैं। यह बैल भी **दोखी** (दोषी) माना जाता है। जिस बैल की पीठ पर साँप का चिह्न हो उसे **साँपिन** कहते हैं। यह बैल भी अशुभ माना जाता है। जिस बैल की आँखें **कंजा** (करंज) के रंग की होती हैं उसे **कंजहा** कहते हैं। बिल्ली की आंखें भी करंज की भाँति भूरी होती हैं इसलिए ऐसे बैलों को **बिलर अक्खा** (सं० बिडाल+अक्षि) भी कहते हैं। जिस बैल की पीठ या शरीर के किसी अन्य भाग पर मांस लटक रहा हो उसे **अमहा** (सं० आम) कहते हैं। ऐसा बैल नंदी का स्वरूप समझा जाता है; इससे काम लेना निषिद्ध है। जिस बैल के शरीर के किसी भाग में जटा निकली हो उसे **जटहा** कहते हैं। इस बैल को भी नंदी का स्वरूप मानते हैं और इससे भी खेती का काम नहीं लेते हैं। जो बछड़े वंश-वृद्धि के लिये दागकर छोड़ दिए जाते हैं उन्हें **साँड़** (षंड) कहते हैं। साधारणतः त्रिशूल से दागने का कार्य किया जाता है।

अवस्था के आधार पर बैलों के भेद

बैलों की अवस्था उनके दाँत से जानी जाती है। प्रायः तीन वर्ष के बाद दाँत निकलना आरंभ होता है जिसे **दाँतब** (दाँतना) कहते हैं। जबतक दूध के दाँत रहते हैं और नए दाँत नहीं निकल आते तबतक **बाछा** या **बछवा** (सं० वत्स प्रा० वच्छ) को उदंत (सं० उद्न्त) कहते हैं। दाँत निकलने को **खूँटियाइब** या **खूँटी आइब** (प्रा० खुंटो + हिं० आना) भी कहते हैं। एक साथ दो-दो दाँत निकलते हैं; साधारणतः प्रति वर्ष दो दाँत निकलते हैं; इस प्रकार दाँत निकलने को **बरिसायन दाँतब** (वर्ष + दन्त) कहते हैं। किसी किसी बाछा को छः महीने पर ही दाँत निकल आते हैं, उन्हें **भड़दंता** भरदंता (सं० भट + दन्त) कहते हैं। जब आठ दाँत पूरे हो जाते हैं तो बैल युवा समझा जाता है। ऐसे बैल को **तउला** (तौला हुआ सं० तुल् तोलित) कहते हैं। ऐसे बैल को **मिलहर** (मिला हुआ) भी कहते हैं। इस अवस्था को **सोझहोब** (होना) कहते हैं और बैल को **सोझ** भी कहते हैं। जिस बैल के छः दाँत हो जाते हैं उसे **छदरि** (सं० षड् + रदः) कहते हैं। सात दाँतवाले बैल को **सतदरि** (सं० सप्त + रदः) कहते हैं। सात दाँतवाला बैल अशुभ माना जाता है। कभी-कभी नौ दाँत भी हो जाते हैं। ऐसे बैल को **नौदरि** (सं० नव + रदः) कहते हैं। यह भी अशुभ माना जाता है। कहावत है—

> **"सतदरि कहे मैं आवों जाउँ, कुटुँब परिवार उपरेहिते खाँव।**
> **नौदरि कहे नवोदिसि जाउँ, लै बढ़नो उपरेहितहिं खाँव।"**

जब बैल के छः दाँत पूरे हो जाते हैं और बाकी दो दाँतों की खूँटी दिखलायी पड़ती है तब ऐसे बैल को **ओछा काना** कहते हैं। स्वस्थ बाछा को **लादा** कहते हैं।

बैल को **बरद,** (सं० बलीवर्द) **बरदा, बरध** या **बरधा** भी कहते हैं। बैल दो प्रकार के होते हैं (१) **अंडू,** (२) **बद्धी** (सं० वध्रि) या **बधिया** । अंडू वे बैल हैं जिनके अंडकोष होता है और बद्धी वे हैं जिनकी जननशक्ति को नष्ट कर दिया जाता है। अंडू बैल बदमाश होते हैं और उनसे काम लेने में कठिनाई होती है। अंडू बैल गाय को देखकर उत्तेजित हो उठता है और उसके पास जाने के लिये चिल्लाने लगता है, जिसे **नरियाब** (नरियाना सं० नद्) कहते हैं। बद्धी बैल इसके विरुद्ध सीधा होता है। बैल को युवा होने के पूर्व ही बद्धी करते हैं, क्योंकि बड़े होने पर कठिनाई होती है। अधिक अवस्था हो जाने पर जब बैल बद्धी किये जाते हैं तब उनका **डील** (सं० अष्ठीला) गिर जाता है। ऐसे बैलों को **छतरभंग** (सं० छत्रभंग) कहते हैं।

बधिया करने का कार्य गाँव में साधारणतः चमार करते हैं। पछुआँ हवा के समय ही बद्धी का कार्य किया जाता है क्योंकि घाव के लिये पछुआँ **बयार** अनुकूल होती है। बद्धी करने के लिये जानवर को **पछाड़** (गिरा) दिया जाता है और उसे कुछ लोग कसकर पकड़ रखते हैं। चमार एक लकड़ी से अंडकोषों को बगल करके जोड़नेवाली नस को मूसर (सं० मुसल) पर रखकर लोढ़े (सं० लोष्ठ) से कुचल देता है। बद्धी के समय बैल के दाँत और **मूँछ** (सं० श्मश्रु) के बाल हिल जाते हैं। यह बद्धी के सफल होने की पहचान है। बद्धी सफल होने को **बद्धी मानब** (मानना) कहते हैं। बद्धी ठीक हो जाने पर बैल के अंडकोष धीरे-धीरे सूखकर छोटे हो जाते हैं। जब बद्धी करते समय नस ठीक से कुचली न जा सकी और बद्धी सफल न हुई तो ऐसे बैल को **नसहर** (सं० स्नसा) कहते हैं। नसहर बैलों को फिर से बद्धी करना पड़ता है। ऐसे बैलों का स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है।

स्वभाव के आधार पर बैलों के भेद

बैलों के स्वभाव या उनकी आदत के अनुसार उनका नाम पड़ जाता है। जो बैल चलने में सुस्त होते हैं उन्हें **गरियार** (सं० गलि) तथा जो चलते-चलते बैठ जायँ और उठाने पर उठे नहीं उसे **परुआ** कहते हैं। जो बैल चलने में तेज़ होते हैं उन्हें **खर** या तीखर (सं० तीक्ष्ण) कहते हैं। चंचल बैलों को **फकट** भी कहते हैं। ज़रा सा छू देने पर जो बैल छटपटा उठते हैं उन्हें **छुपकन** कहते हैं। अच्छे मज़बूत और काम करनेवाले बैल को **पनिगत** (पानीवाला) कहते हैं। लात चलानेवाले, मारनेवाले और हौंकारनेवाले बैलों को क्रमशः **लतहा मरकहा** तथा **हौंकरहा** कहते हैं।

बैलों के पालन-पोषण से संबंधित शब्द

बैलों को बाँधने के लिये उनके गले में एक रस्सी डाल दी जाती है जिसे **गराँव** (फ़ा० गरेबा) कहते हैं। इसी गराँव से एक रस्सी को **पगहा** (सं० प्रग्रह प्रा० पग्गह) कहते हैं। शरारती बैलों को **अइती** (सं० आयतिका) में करने के लिये उसके नथने (सं० नस्त) में एक रस्सी पहना दी जाती है जिसे **नाथी** (सं० नाथ) कहते हैं। नाथी को

सूजा के द्वारा पहनाते हैं। इस क्रिया को **नाथ** (नाथना) कहते हैं। यह दो ढाई हाथ लंबी, पतली और चिकनी रस्सी होती है। इस रस्सी के दोनों किनारे सींग के पीछे ले जाकर बाँध दिए जाते हैं। अधिक शरारती बैलों को अइती में (बसमे) करने के लिये **दोगाही** लगाई जाती है। दोगाही लगाने का ढंग यह है कि बैल के गले की रस्सी को, जिसे **कंठा** भी कहते हैं, तथा नाथी को, दोनों को एक लोहे के चुल्ले या छुल्ले में से निकालते हैं। इस चुल्ले को फिर पगहे से संबंधित करते हैं यह पगहा अब **दोगाही** कहलाता है, क्योंकि गले और नाक दोनों की रस्सियाँ इससे संबंधित होती हैं। अधिक **उखमजी** या बदमाश बैल के गले के दोनों ओर दोगाही लगाने की व्यवस्था करते हैं। दोनों ओर से लगी हुई दोगाही को **छिरकी** या **सिरकी** कहते हैं।

बैल को हर में चलने की आदत डालने के लिये उसे पहले एक साधारण लकड़ी के हल के साथ जोतते हैं। उसे बैल **निकारब** (निकारना) कहते हैं। जुए में चलाने के लिये उसे पहले किसी युवा बैल के साथ न जोड़कर किसी अधेड़ बैल के साथ जोतते हैं ताकि बाछा उसके साथ दौड़ सके। जब बाछा के दो या चार दाँत रहते हैं तभी से उससे काम लेने लगते हैं। आरंभ में ही बैल निकालते समय बैलों को इशारे की बोली समझने का भी अभ्यास करा दिया जाता है। बैल के गले में जुआ पहनाने को **जोखरब** (जोखरना—सं० युग—) कहते हैं।

बैल का मुख्य भोजन **सानी** है। भूसा के साथ चोकर खली आदि मिला कर चलाने को **सानी चलाइब** (चलाना) कहते हैं। सानी में पानी की मात्रा काफ़ी रहती है। जब पानी कम डालकर भूसा खाने को दिया जाता है तब उसे मकोला कहते हैं। बिलकुल सूखे भोजन को **कोरो** कहते हैं। पशुओं के भोजन को **चारा**, **कोयर** अथवा **लेहना** कहते हैं। हरी घास आदि को **हरियरी** कहते हैं। बैल को **गेंड़ा** (सं० गण्ड) अर्थात् ईख का ऊपरी पत्तियों-वाला भाग, धान का **पुअरा** (सं० पलाल), **सौंहटा** (सावाँ का पुअरा), **मुँगारा** (सं० मुद्गाकार) अर्थात् बिना फूटा हुआ धान का पौधा, **लकठा** (सं० यष्टि—) ज्वार का बाल टूट जानेपर डंठल, **चरी**, ज्वार का हरा पौधा आदि **गँड़ास** (सं० गण्डाशकः—गाँठ काटनेवाला) से बालकर खिलाया जाता है। इस बाले हुए पदार्थ को **बालन** भी कहते हैं। बैलों के बाँधने के स्थान को **बरदोर** कहते हैं।

बैलों के रोग

पशुओं को भी मनुष्यों की भाँति रोग होते हैं, इसलिए बहुत सी बीमारियाँ वही हैं जो हमलोगों को होती हैं। जब कभी कोई संक्रामक रोग या फसली बीमारी आती है तो उसके लिये देवी-भवानी की पूजा की जाती है; बीमारी को दूर करने के लिये टोटका के रूप में गाँव की सीमापर **निकार** किया जाता है जिसका भाव यह है कि बीमारी सीमा के बाहर चली गई। पशुओं के संकट को प्रकट करने के लिये कहा जाता है कि **गोरुन** (सं० गोरूप) पर **आभा** आई है। बैलों को साधारणतः निम्न रोग होते हैं—

टांसा—यह साधारणतः पिछले पैरों में होता है। पैर में कभी-कभी दर्द होने लगता है और ऐसी दशा में पैर की नस तन जाती है। पैर में एक प्रकार की झनक पैदा होती है। यह एक प्रकार का वायु रोग है।

खाँगा—यह खुर की बीमारी है। खुर में एक प्रकार के छोटे-छोटे कीड़े पड़ जाते हैं। बैल को पानी में खड़ा करने से ये कीड़े मर जाते हैं।

गंडा—पूछ में गुठली के आकार की मांस-वृद्धि हो जाती है, उसे ही गंडा कहते हैं। (सं० गंडक-गाँठ)

चाभा—बैलों की जीभ पर छोटे-छोटे नोकीले दाने पड़ जाते हैं उन्हें चाकू या आवाँ से रगड़ कर साफ करते हैं। नमक रगड़ने से भी लाभ होता है।

घुटका—यह श्वासकष्ट की बीमारी है। इसे **घुड़का** भी कहते हैं। इसमें साँस में घुरघर की आवाज़ होती है।

ढाँसा—यह भी फेफड़े की बीमारी है। इसमें पशु ढाँसता है।

नकड़ा—यह नाक की बीमारी है। इसमें सूँघने की शक्ति नष्ट हो जाती है। मदार की पतली डाली नाक में डालकर उसकी सफाई की जाती है।

सुकड़ा—इसे **सुकहैना** भी कहते हैं। बैल की तालू में एक सुराख हो जाता है; इसे बंद करने के लिये **नरई** (सं० नाल) एक प्रकार की घास की सींक सूराख में डालते हैं।

बाघी—यह एक प्रकार का फोड़ा है जो पेट के अंदर हो जाता है। यदि यह फूटकर पाखाने के रास्ते बह जाय तो अच्छा, नहीं तो प्राणघातक होता है।

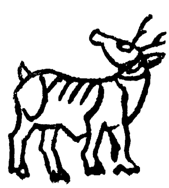
मेघी—तालू के पास एक दो अंगुल लंबी झिल्ली बन जाती है जिससे भोजन में कष्ट होता है। इसे नष्ट करने के लिये खुरपी गरम करके दागते हैं।

पाठा—इस बीमारी में शरीर के किसी स्थान से खून बहकर निकलता है। यह भी प्राणघातक रोग है।

घेंघा—इसमें गले की नली में एक प्रकार की सूजन आ जाती है। इसमें चिउँटा के बिल की मिट्टी पानी में सानकर लगाते हैं।

पोंकब—पतले दस्त आने को पोकना कहते हैं।

फूली—जिस प्रकार मनुष्य की आँख में फूली पड़ जाती है उसी प्रकार बैलों की आँख में भी फूली पड़ जाती है।



भोजपुरी-लोक-गीत

कृष्णदेव उपाध्याय

लोकगीतों की भारतीय-परम्परा

भारतवासियों का जीवन सदा से संगीतमय रहा है। प्रत्येक उत्सव, पर्व और त्योहार के अवसर पर समयोचित गीत गाकर चित्त-विनोद करना हमारी दिनचर्या का एक आवश्यक अङ्ग है। पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत, विवाह और द्विरागमन आदि हमारे समस्त उत्सवों के अवसर पर स्त्रियाँ अपने कोमल कल-कण्ठ से रमणीय गीत गाकर उपस्थित मण्डली का पर्याप्त मनोरञ्जन किया करती हैं। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन पर्वों के अवसर पर मनोहर गाथाओं के गाने का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मैत्रायणी संहिता (३।७।३) में विवाह के अवसर पर 'गाथा' गाने की विधि उल्लिखित है। पारस्कर गृह्यसूत्र (१।७) में विवाह के अवसर पर तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में सीमन्तोन्नयन के समय वीणा पर गाथा (गीत) गाने का उल्लेख पाया जाता है। बाल्मीकीय रामायण में रामजन्म के समय तथा श्रीमद्भागवत में कृष्णजन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

वैदिक काल में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है वे ही लोक-गीत की पूर्व प्रतिनिधि हैं। 'गाथा' का अर्थ है पद्य या गीत और इस अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में हुआ है—कण्व इन्द्रस्य गाथया (८।३२।१)। वैदिक गाथाओं के नमूने शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४) तथा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं, जिनमें अश्वमेध यज्ञ करनेवाले राजाओं का संक्षिप्त वर्णन पाया जाता है। दौष्यन्ति—भारत के विषय में नमूने के लिये यह गाथा देखिए—

"हिरण्येन परीवृतान् शुक्लान् कृष्णदतो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्धानि सप्तच ॥"

इन ऐतिहासिक गाथाओं की परम्परा महाभारत काल में भी अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। इसी दुष्यन्त के पुत्र भरत के संबंध में महाभारत (आदिपर्व ७४।११०–११) में अनेक अन्य गाथाएँ दी गई हैं जो अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होती हैं। वैदिक गाथाओं के समान अवस्ता में उपलब्ध गाथाएँ अवस्ता के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक प्राचीन स्वीकृत की गई हैं। पाली जातकों के अनुशीलन से उस भाषा में लिखी गई गाथाओं का पता चलता है, जिनमें इस काल की विख्यात लौकिक कहानियों का सारांश उपस्थित किया गया है। बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कथाएँ—जिन्हें जातक कहते हैं—इन्हीं गाथाओं के पल्लवीकरण से आविर्भूत हुई हैं। सिंहचर्म जातक की एक गाथा देखिए जिसमें कथा की मूल घटना की ओर संकेत किया गया है।

"नेतं सीहस्स नदितं, न व्यग्घस्स दीपिनो।
पारुतो सीहचम्मेन, जम्मो नदति गद्रभो।"

विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी में जब प्राकृत भाषा का बोलबाला था, लोकगीतों की उन्नति बड़े जोरों से हुई। राजा हाल या शालिवाहन के द्वारा संगृहीत 'गाथासप्तसती' से पता चलता है कि इस समय लोकगीतों के बनाने और गाने की धुन बहुत ही अधिक थी। उस समय की असंख्य गाथाओं (लोकगीतों) में से केवल सात सौ ही गीत आज उपलब्ध हैं। अपभ्रंश काल में भी लोकगीतों का ह्रास नहीं हुआ। उस समय के कथा ग्रन्थों में तत्कालीन गाथाओं के अनेक उद्धरण मिलते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि आजकल प्राप्त होनेवाले लोकगीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वे वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं।

भोजपुरी-साहित्य

भोजपुरी का लिखित साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। इसके साहित्य की अभिवृद्धि न होने का प्रधान कारण है राजाश्रय का अभाव। भोजपुर मण्डल में किसी प्रतापशाली, व्यापक प्रभाववाले राजा का पता नहीं चलता, जिसकी छत्रच्छाया में भोजपुरी पनपती। इसे न तो मैथिल कोकिल विद्यापति ही प्राप्त हुए और न गोस्वामी तुलसीदास ही। यदि इन कवियों के समान कोई प्रतिभाशाली कवि भोजपुरी को मिलता तो शायद इसका स्थान आज कुछ और होता। सर्वप्रथम लाला खड्ग बहादुर ने अपनी 'सुधा बूँद' नामक पुस्तक में ६० भोजपुरी कजलियों का संग्रह किया। पं० रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित' नाटक के अनेक दृश्य भोजपुरी बोली में लिखे हैं तथा 'जंगल में मंगल' नामक पुस्तक में बलिया में घटित घटनाओं का वर्णन भोजपुरी में किया है। पं० रामगरीब चौबे ने 'नागरी-विलाप' में भोजपुरी भाषा का प्रयोग किया है। इस संबंध में डाक्टर ग्रियर्सन का नाम लेना भी अत्यावश्यक है जिन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका (भाग १६,१८) में अनेक भोजपुरी गीतों का संग्रह अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् ८४ में प्रकाशित किया था। परन्तु भोजपुरी का असली साहित्य वे असंख्य लोक-गीत हैं जो अभीतक लिपिबद्ध नहीं हैं तथा जो धीरे-धीरे लुप्तप्राय हो रहे हैं। इन्हीं लोक-गीतों का संक्षिप्त विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि विस्तार के लिये न स्थान ही है और न अवकाश ही।

भोजपुरी लोक-गीतों के प्रकार

भोजपुरी लोकगीतों के अनेक प्रकार हैं परन्तु इन सबको प्रधानतया चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है (१) संस्कारसंबंधी (२) ऋतुसंबंधी (३) देवतासंबंधी (४) जातिसंबंधी। (१) संस्कारसंबंधी गीत वे हैं जो किसी संस्कार विशेष के अवसर गाए जाते हैं; जैसे—पुत्रजन्म, उपनयन तथा विवाह आदि। इन गीतों के प्रधान भेद ये हैं—(क) सोहर (ख) खेलवना (ग) मुण्डन के गीत (घ) जनेऊ के गीत (च) विवाह के गीत (छ) वैवाहिक परिहास के गीत (ज) गवना के गीत (झ) द्विरागमन के गीत।

पुत्रजन्म के अवसर पर गाए जानेवाले गीत 'सोहर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें 'सोहिलो' तथा 'मंगल' के नाम से भी पुकारते हैं। जब किसी के घर में पुत्र पैदा होता है तो स्त्रियाँ कहती हैं कि चलो अमुक के घर 'मंगल' गाने चलें। वास्तव में 'सोहर' एक छन्द का नाम है, जिसका व्यवहार गो० तुलसीदास ने अपने 'राम लला नहछू' में किया है। इसी छन्द में गीतों के लिखे जाने के कारण इनका नाम भी 'सोहर' पड़ गया। परन्तु भोजपुरी 'सोहर' पिङ्गल के तंग साँचे में ढाल कर नहीं बनाए गए हैं। ये सर्वथा स्वतंत्र हैं। इन गीतों में आनन्द के उल्लास का वर्णन होता है। साथ ही सन्तानहीन नारियों की करुण दशा का चित्रण सहृदयों के हृदय में विशद सहानुभूति उत्पन्न करता है। खेलवना भी सोहर के समान पुत्रजन्म के सुखद अवसर पर गाया जाता है, परन्तु सोहर से इसमें कुछ भिन्नता है। सोहर में विशेष कर पुत्रजन्म की पूर्व पीठिका का वर्णन रहता है और 'खेलवना' में उत्तर पीठिका का। लड़के के लिये ललचनेवाली स्त्री गर्भ की वेदना से व्याकुल तरुणी, वधू के मंगलसाधन में लगी हुई सास, धाय को दौड़कर बुलानेवाला पति आदि—ये सोहर के प्रतिपाद्य विषय हैं, परन्तु सद्योजात शिशु का रोदन, माता का आनन्द, सास की प्रसन्नता, पुत्रजन्म के उछाह भरे अवसर पर सर्वस्व लुटा देनेवाले पिता का हर्ष खेलवना के मुख्य विषय हैं। बालक के बालों को सर्वप्रथम काटने को 'मुण्डन' कहते हैं। यह संस्कार किसी शुभ दिन को किसी पवित्र स्थान में प्रायः नदी के किनारे किया जाता है। नदीतट को जाते समय स्त्रियाँ इस समय जो गीत गाती हैं उन्हें मुण्डन के गीत कहते हैं। यज्ञोपवीत के गीतों में ब्रह्मचारी बालक की भिक्षा-याचना, पढ़ने के लिये उसका काशी जाना तथा उसके साधनों और नियमों का विशेष उल्लेख रहता है। नीचे का यह गीत देखिए जिसमें ब्रह्मचारी भिक्षा माँग रहा है और गृहस्वामिनी उससे पूछती है कि:—

"किया लेबे बरुआ रे धोती से पोथी, किया लेबे पियर जनेव।
किया लेबे बरुआ रे सोबरन भिखिया; जाहि घरे कान्हर जनेव॥"

भोजपुरी गावों में विवाह एक लम्बा-चौड़ा व्यापार है। वररक्षा से लेकर विवाह तक अनेक मांगलिक कृत्य किये जाते हैं और इन सब अवसरों पर गीत गाए जाते हैं। वर के प्रथम पूजन को वररक्षा कहते हैं। कन्या पक्षवाले जब वर को वस्त्र, भाण्ड तथा रुपया देते हैं, उसे तिलक कहते हैं। वर का विवाह के लिये जाते समय जो माङ्गलिक पूजन होता है उसे 'परिछावन' या 'वरच्छा' तथा विवाह के समय 'कन्या-निरीक्षण' को 'गुरहथी' कहते हैं। इन विभिन्न अवसरों पर विभिन्न गीत गाए जाते हैं; परन्तु इन सब में रहती है वही शृङ्गार की चर्चा। इन विवाह के गीतों में कहीं संभोग शृङ्गार का वर्णन है तो कहीं विप्रलम्भ का मार्मिक चित्रण; कहीं स्त्री के दिव्य सतीत्व का उल्लेख है, तो कहीं पति की कठोरता का दिग्दर्शन। स्त्री-पुरुष के संभोग का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

जाहु जाहु भउजी रे जाहू दुलारी, उठि के आपन सेज जाहु ए।
आरे आपन ललन संगे काम सवाँरहु, आजु सोहाग के राति ए॥"

विवाह के बाद वर को 'कोहबर' में ले जाते हैं और वहाँ स्त्रियाँ वर से अनेक प्रकार का हँसी-मजाक करती हैं। ये 'वैवाहिक परिहास' के गीत हैं। विवाह के बाद वर अपनी स्त्री को मायके से अपने घर लाने के लिये जब जाता है तब उसे 'गवना' कहते हैं। इन 'गवना' के गीतों में करुण रस ओत-प्रोत रहता है। पुत्री की माता का रोदन पाषाणहृदय को भी पिघलाने में समर्थ है।

(२) ऋतुसंबंधी गीतों में उन गीतों की गणना है जो विभिन्न मास में विभिन्न ऋतुओं में गाए जाते हैं। सावन का मनभावन महीना किसे अच्छा नहीं लगता। इस महीने में जो गीत गाए जाते हैं उसे कजली कहते हैं। वसन्त ऋतु अपनी मनोहरता तथा रमणीयता के कारण 'ऋतुराज' कही जाती है। इस ऋतु में फागुन का महीना मस्ती प्रदान करने तथा सुहावना होने के कारण बड़ा ही प्यारा है। इस मास में सबका मन मस्त रहता है। इसमें जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'फगुआ' या होली कहते हैं। जिन लोगों ने किसी गाँव में भोजपुरी लोगों को फगुआ गाते हुए देखा है; वे ही इसके आनन्द की कुछ कल्पना कर सकते हैं। 'फगुआ' में राधा-कृष्ण तथा सीता और राम के होली खेलने का वर्णन पाया जाता है। चैत के महीने में जो गाना गाया जाता है उसे 'चैता' कहते हैं। कुछ लोग इसे घांटो भी कहते हैं। इसमें पति-पत्नी का प्रेम-वर्णन ही प्रधान रूप से रहता है। यह गीत शब्दों की मनोरमता, हृदय की द्रावकता और स्वरों की सुस्वरता में अपना सानी नहीं रखता। भोजपुरी गीतों में चैता मुझे सबसे अधिक प्यारा, सुखद तथा हृदयहारी मालूम पड़ता है। एक बानगी लीजिए और यदि आपका दिल भरे तो दिल खोलकर दाद दीजिये।

रामा साँझहि के सूतल, फूटली कीरिनिया हो रामा।
तबो नाहीं, जागेला हमरो बलमुआ हो रामा॥ तबो नाहीं॥
रामा गोड़ तोरा लागिले लहुरि ननदिया हो रामा।
रचि एक आपन भइया देहु ना जगाई हो रामा॥

पति के परदेश चले जाने पर बारहों महीने के कष्टों का विशद वर्णन जिन गीतों में होता है, उन्हें बारहमासा कहते हैं। इनका वर्ण्य विषय संयोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार है।

(३) देवतासंबंधी गीत वे हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की प्रार्थना की जाती है। प्रसन्न होने के लिये उनसे विनती की जाती है तथा मनोरथ पूरा होने पर चढ़ावा चढ़ाने की प्रतिज्ञा। इस प्रकार के गीतों में गंगाजी के गीत, शिवजी के गीत, छठी माता के गीत, शीतला माई के गीत प्रसिद्ध हैं। जब बालक को चेचक निकलती है तब उसके कष्ट दूर करने के लिये शीतला माई का गीत स्त्रियाँ गाती हैं तथा उनसे प्रार्थना करती हुई कहती हैं कि—

"आचारा पसारि भीखि माँगेली बालकावा के माई।
मोर मनवा राखनि मइया; हमरा के बालाकावा भीखि दी"॥

(४) जातिसंबंधी गीत—हमारे यहाँ कुछ ऐसे गीत हैं जिन्हें विशिष्ट जातियाँ ही प्रायः गाती हैं। इन गीतों में बिरहा, विजयमल, लोरकी तथा पवरा आदि प्रधान हैं। अहीर

लोगों का जातीय गान बिरहा है, तेली प्रायः विजयमल गाते हैं; चमार तथा दुसाध पचरा गाथा करते हैं तथा नेटुआ लोरकी गाने में प्रवीण होते हैं। इसके अतिरिक्त जाँत, मेला तथा नहान आदि के भी गीत हैं जो उपर्युक्त वर्गीकरण के बाहर हैं।

लोकगीतों में रसपरिपाक

भोजपुरी लोकगीत केवल अनपढ़ स्त्रियों की ही सामग्री नहीं हैं, इनमें सरस सहृदय भी गोता लगाकर आनन्द ले सकते हैं। इन लोकगीतों में कवित्व की छटा की कुछ कमी नहीं है। उपमा का सौन्दर्य, रूपक का सुन्दर रूप, उत्प्रेक्षा की उड़ान तथा विभिन्न रसों का सुन्दर परिपाक इन गीतों में मिलता है। परन्तु इन सबके विवेचन के लिये यहाँ स्थान नहीं है। यों तो भोजपुरी लोकगीतों में शृङ्गार-संभोग तथा विप्रलम्भ, हास्य और शान्त रस का प्रचुर वर्णन मिलता है, परन्तु करुण रस की निर्झरिणी जिस प्रबल वेग से बहती है उसके आगे कोई टिक ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि इन गीतों में ६० प्रतिशत करुण रससंबंधी गीत हैं, तो कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। इन करुण रस से ओतप्रोत गीतों के आगे भवभूति की यह उक्ति—"अपि ग्रावा रोदति, अपि दलति वज्रस्य हृदयम्", अक्षरशः ठीक जँचती है। करुण रस के गीतों में प्रधानतया तीन प्रकार के गीत पाए जाते हैं (१) विदाई (२) वियोग और वैधव्य। लड़की की विदाई के अवसर का यह गीत कितना मर्मभेदी है—

"बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली; आमा के रोवले अनोर।
भइया के रोवले चरन धोती भीजे ; भउजी नयनवा ना लोर॥"

पति के परदेश जाते समय किसी स्त्री की मार्मिक उक्ति सुनिए—

"आजु के गइल भँवरा कहिया ले लौटब; कतेक दिनवाँ।
हम जोहथि तोरि बटिया, कतेक दिनवाँ॥
गनत गनत मोरी अङ्गुरी खिआइल; चितवते दिनवाँ।
लोरवा ढुरे मोरे नैना; चितवते दिनवाँ॥"

एक विधवा की करुण कहानी सुनिए और यदि हृदय हो तो चार आँसू बहाइए। पुत्री अपने पिता से कहती है—

"बाबा सिर मोर रोवेला सेनुर बिनु,
नयना कजरवा बिनु ए राम।
बाबा गोद मोर रोवेला बालक बिनु,
सेजिया कन्हैया बिनु ए राम॥"

भोजपुरी गीतों का संग्रह

आज से कुछ वर्ष पूर्व ग्राम-गीतों के संग्रह की ओर विद्वानों की उपेक्षा बुद्धि थी, परन्तु हर्ष का विषय है कि इधर कुछ विद्वानों का ध्यान इस चिर उपेक्षित परन्तु आवश्यक विषय की ओर आकर्षित हुआ है तथा फलस्वरूप मैथिली लोकगीत, राजस्थानी लोक-गीत तथा छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का सम्पादन योग्य व्यक्तियों के द्वारा किया गया है। भोजपुर की उर्वरा भूमि गीतों की ऊपज के लिए प्रसिद्ध है। इस मण्डल में सैकड़ों ग्रामगीत खेत में हल चलानेवाले किसानों, खेत सोहनेवाली स्त्रियों तथा धान रोपनेवाली मूसहरों की औरतों के मुख से सुनने को मिलते हैं। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इन असंख्य लोकगीतों को लिपिबद्ध कराने का प्रयास अभी तक जैसा चाहिए नहीं किया था*। इधर कुछ वर्षों से इस गुरुतर भार को इन पंक्तियों के लेखक ने अपने दुर्बल कन्धों पर उठाया है। लोकगीतों का संग्रह किसी एक व्यक्ति का काम नहीं है। इसके लिये साहित्य-सेवियों की एक पूरी सेना होनी चाहिए तभी यह कार्य सुचारु रूप से हो सकता है। भोजपुरी लोकगीतों के विशाल भण्डार में से अभी तक मैं केवल दो-तीन हजार गीतों का संग्रह कर सका हूँ। इस संग्रह में भोजपुरी गीतों के प्रायः सभी प्रकार सन्निविष्ट हैं। संस्कारसंबंधी, ऋतुसंबंधी, देवतासंबंधी, जातिसंबंधी तथा अन्य प्रकार के विविध गीतों का संग्रह मैंने किया है। मेरे संग्रह का पहिला भाग 'भोजपुरी ग्रामगीत' के नाम से हिन्दी साहित्य-सम्मेलन (वि० २०००) से प्रकाशित हो चुका है। पहिले भाग में केवल २७१ गीतों का संग्रह है। मैंने समस्त भोजपुरी गीतों को दो भागों में विभक्त किया है। (१) ग्राम-गीत (Folk-songs) और लोकगीत (Ballads)। ग्रामगीत से मेरा आशय उन गीतों से है जो गेय हैं। लोकगीत वे हैं जो प्रबन्धात्मक हैं और जिनमें कथा की प्रधानता है, गान की नहीं। अस्तु, भोजपुरी ग्राम-गीत के दूसरे भाग में ४७५ गीत हैं एवं २५ प्रकार (Types) के गीतों का संग्रह है, जो प्रायः प्रथम में नहीं हैं। इस भाग में बिरहा, पचरा, पूर्वी, चैता, होली की प्रधानता है। यह भाग भी सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो रहा है तथा इस समय प्रेस में है।

गीतों के संग्रह में कठिनाइयाँ

भोजपुरी गीतों के संग्रह में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई गीत गानेवाली बूढ़ी स्त्रियों का अभाव है। आजकल की पढ़ी-लिखी स्त्रियों को गीतों से कितनी घृणा है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अतः इन गीतों को लिखने के लिये बूढ़ी स्त्रियों का पता लगाना है। यदि कहीं पता लग भी जाय तो गीत को उनसे लिखना भी कठिन है। स्त्रियाँ गीत को बोलकर नहीं लिखा सकतीं। जब वे दो-चार स्त्रियों के साथ में रहेंगी तभी उन्हें गाना याद भी आता है अन्यथा नहीं। कई बार हमने बूढ़ी स्त्रियों से गाना लिखना प्रारम्भ किया।

---

* हर्ष की बात है कि श्री गणेश चौबे, बाबू दुर्गाशंकर सिंह जी, नन्द किशोर जी तथा मि० आर्चर ने भी हाल ही में इस ओर प्रयत्न किए हैं—सम्पादक।

उन्होंने कुछ लिखवाया भी, परन्तु बीच ही में भूल गईं। एक बार की एक घटना मुझे याद है कि एक 'जतसार' को लिखने में मुझे पूरे दस दिन खर्च करने पड़े थे, क्योंकि जिस स्त्री से मैं इस गीत को लिखता था वह बीच ही में भूल जाती तथा दूसरे दिन आने के लिये कहती। दूसरी कठिनाई पर्दे की प्रथा है। भोजपुर मण्डल में पर्दे की प्रथा बहुत है। चूँकि उत्सव तथा देवतासंबंधी समस्त गीत केवल स्त्रियाँ ही गाती हैं अतः इन गीतों को उन्हीं के पास जाकर लिखा जा सकता है। परन्तु पर्दे के सुदृढ़ दुर्ग को भेद कर उनके यहां पहुँचना अत्यन्त कठिन है। एक बार मैंने एक कहारिन को अपने यहां बुलवाया। वह आई, परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि वह गाने के लिये बुलाई गई है तो लज्जा के कारण उसने गाने से इन्कार कर दिया। बहुत कहने-सुनने पर उसने गाना तो स्वीकार किया परन्तु मेरे सामने नहीं। अंत में दीवाल की आड़ में बैठकर मैंने उसका गाना लिखा। तीसरी कठिनाई अंधविश्वास है। कुछ लोग इन गानों को लिपिबद्ध कराना उचित नहीं समझते। प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति को नीरोग करने के लिये हमारे यहाँ पचरा गाया जाता है। इसे नीच जाति के लोग गाते हैं। एक बार हमने एक दुसाध (अछूत जाति) को पचरा गाने के लिये कहा तो उसने जवाब दिया "बाबू हम ना गाइबि ना त देवता खिजिया जइहें"। बहुत दबाव डालने के बाद उसने कुछ थोड़े से पचरे लिखवाए। परंतु सबसे अधिक कठिनाई प्रबंधात्मक गीत (Ballads) के लिखने में है। पहिले तो इसके जाननेवाले बहुत थोड़े रह गए हैं, परन्तु जो हैं भी उनका पता लगाना कठिन है। यदि पता लग भी गया तो वे बोल कर आपको लिखा नहीं सकते। वे गाने के आवेश में आकर इतनी जल्दी गाते हैं जिसका समझना और लिखना कठिन है। यदि वे बीच में भूल गए तो फिर न पूछिए। इस प्रकार से महीनों में शायद एक लोक-गीत (Ballad) लिखा जाय तो भी बहुत समझना चाहिए।

उपाय

ग्राम-गीतों के संग्रह का काम साहित्य-सेवियों की एक मण्डली के द्वारा हो तो अधिक उचित हो। यह कार्य किसी एक व्यक्ति के वश का नहीं है। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड में 'फोक-लोर-सोसाइटी' है उसी प्रकार से यहाँ भी प्रत्येक जिले में लोक-गीतों के संग्रह के लिये कमेटियाँ हों जिनके प्रतिनिधि गाँव-गाँव में घूम-घूम कर गीतों का सावधानी से संग्रह करें। यदि उत्साही कार्यकर्ता उपलब्ध होंगे तो अन्य कठिनाइयाँ आप ही आप दूर हो जायँगी। अतः विद्वानों, श्रीमानों तथा हिन्दी-सेवी संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि साहित्य की इन अमूल्य निधियों के संग्रह की ओर ध्यान दें।

गुजरात के लोककवि मेघाणी

दलसुख मालवणिया

गुजराती भाषा के विषय में कहा जाता था कि उसकी 'कीमत चार पैसे हैं।' किन्तु पिछले पचास वर्षों के अन्दर गुजराती में जो विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ है, उसके कारण भारत की विभिन्न भाषाओं के सामने गुजराती भाषा गौरव के साथ अपना सिर उठा सकती है। पिछले पचीस वर्षों में गुजराती भाषा के जो महान् लेखक हुए हैं उनमें श्री झवेरचन्द मेघाणी का स्थान प्रथम पंक्ति के लेखकों में है। मेघाणी जी केवल लेखक ही नहीं थे, वह देशभक्त सत्याग्रही और समाजसुधारक भी थे। मेघाणी जी के काव्य से प्रभावित होकर गांधी जी ने उनको राष्ट्रीय कवि का बिरुद भी दिया था। मेघाणी जी साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित किसी वाद के अनुगामी नहीं थे। उनका कहना है कि साहित्यकार का कोई वाद अथवा सम्प्रदाय नहीं होता। किसी वाद या सम्प्रदाय का प्रचारक बनकर साहित्यकार, वस्तुतः अपने मनोगत वहम, रुचि-अरुचि, भ्रम और धारणाओं का जाल बनाकर उसी में फँस जाता है। लेखक तो संसार की प्रतिदिन गतिशील अवस्थाओं का दर्शन करता है। उसका यह दर्शन समग्र दर्शन या विभिन्न कोणों से किया गया दर्शन होता है। लेखक में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा भी रहती है। अतः दूसरों को दिखाने में उसे आनन्द मिलता है। वस्तुतः लेखक द्रष्टा है, अतएव वह विविध अनुभवों का संग्रह करता है। जबतक उस संग्रह को वह मधु रूप में परिवर्तित नहीं कर सकता, तबतक उस संग्रह के भार को वहन करेगा। फूलों के रस को साहित्यमधु के रूप में परिवर्तित कर देने की कला आसान नहीं है, वेदनापूर्ण है। किसी प्रश्न का समाधान कर देना लेखक का कार्य नहीं। प्रश्न की ओर ध्यान दिला देना ही उनका कार्य है। लेखक न वकील है और न राजनैतिक नेता। वह तो परिस्थितियों का विश्लेषण करता है। समस्याएँ तो अनेक हैं, किन्तु हमारा ध्यान उन पर नहीं जाता। लेखक उन प्रश्नों को उठाता है, उठाकर उनके अस्तित्व का भान कराता है, और औरों के मन में समाधान की प्रेरणा देता है।

साहित्य का ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं जो मेघाणी जी से अछूता रहा हो। जिस किसी क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया, वहीं पथ-निर्माता का काम किया, वस्तुतः वह साहित्यकार ही नहीं, साहित्यपुरुष थे। पच्चीस वर्ष के अल्प साहित्यिक जीवन में उन्होंने नब्बे ग्रन्थ लिखे और इनमें ऐसा कोई ग्रन्थ शायद ही हो जिसके अनेक संस्करण न हुए हों। पन्द्रह दिन में दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का सौभाग्य किसी भी लेखक के लिये दुर्लभ है। पर यह सौभाग्य मेघाणी जी को प्राप्त है। आश्चर्य तो यह है कि उनका अधिकांश लेखन साप्ताहिक पत्रों के पन्ने भरने के लिए हुए। 'वेविशाल' जैसा उपन्यास जब एक साप्ताहिक पत्र में क्रमशः छपता था, तब हजारों व्यक्तियों के पत्र उनके पास आते थे, जिनमें पत्र लेखकों द्वारा

उनको सलाह दी जाती थी कि उसमें किन-किन बातों की चर्चा होनी चाहिए। इससे पता चलता है कि उनका वाचकसमुदाय कैसा समरस था। उनकी सफलता का प्रधान कारण वाचक की हीनवृत्ति या यौनवृत्ति पोषण नहीं; मानवता को साकार सुन्दर रूप देना है।

मेघाणी जी की इस सफलता के रहस्य का जब विचार करते हैं, तब पता चलता है कि लोक-साहित्य और लोक-जीवन के साथ उनका जो तादात्म्य था, उसके कारण लोकमानस का वास्तविक चित्रण लोकभाषा में वे कर सके। साथ ही उन्होंने पाठकों के निकट परिचित और सजीव पात्रों की सृष्टि कर दी। यही नहीं, परोक्ष रूप से देश, काल, पात्र और वातावरण को भी मेघाणी जी की सर्जक कल्पना ने जीवन्त रूप दे दिया। उनकी पात्रसृष्टि की यह एक बड़ी विशेषता है कि एक भी पात्र की पुनरुक्ति नहीं होती। सर्वत्र नए और जीवन्त पात्र हैं। जीवन के साथ जाने पहचाने और सम्बन्धित से उनके पात्र होते हैं। विद्वत्ता के साथ ही सजीव कल्पना और हृदय के समभाव की सहायता में जब लोकभाषा के चुने हुए अर्थगंभीर शब्दों का प्रयोग वे करते हैं, तब वाचक को अपने ही आस-पास की दुनिया की वाणी का अनुभव होता है। गुजराती साहित्य में मेघाणी जी ने संस्कृत शब्दों के स्थान में लोकभाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग करके उन शब्दों का जो सामर्थ्य है उसका साक्षात्कार करा दिया है। उनके अनुकरण में अब गुजराती साहित्य में कहानी, कविता, उपन्यास जैसे साहित्य प्रकारों (रूपों) में लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा है। इस प्रकार गुजराती भाषा के कोष को समृद्ध करने में और उन शब्दों को साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित करने में भी उनकी अपूर्व देन है। उनके ग्रन्थ प्राणवान् मनुष्यों की तरह सजीव और बोलते हुए प्रतीत होते हैं। और इस सबका यही कारण है कि उसमें लोक-भाषा और लोक-मानस का पुट दिया हुआ है।

चारण कवियों की तरह ललकारकर बुलन्द आवाज में वे जब कभी गीत गाते या कहानी कहते, तब श्रोता मन्त्रमुग्ध से हो जाते। बंबई युनिवर्सिटी में प्रतिवर्ष किसी न किसी विद्वान् का व्याख्यान गुजरात और गुजराती साहित्य पर बराबर होता है। पर साधारणतया उसे सुनने के लिये शायद ही पचास व्यक्ति उपस्थित होते होंगे। किन्तु उसी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत मेघाणी जी का व्याख्यान जब हुआ तो हाल के बाहर सड़क के ऊपर खड़े होकर सुननेवालों की अपार भीड़ थी। लोक-साहित्य और जीवन जैसा रूखा विषय था, किन्तु मेघाणी जी के उस विषय के साथ तादात्म्यने उसे रोचक बना दिया। व्याख्यान कई दिन हुआ और दिन-प्रति-दिन भीड़ बढ़ती ही गई।

लोकसाहित्य की संपत्ति को प्राप्त करना आसान नहीं है। इसके लिये मेघाणी जी ने जंगलों और पहाड़ों के दुर्गम स्थान, समुद्र का किनारा, और अहीरों के नेस जैसे स्थानों का भ्रमण किया था। किसी बहारबटिया की कथा लिखने के पहले जहाँ-जहाँ उसका संग्राम हुआ था, जहाँ वह छिप कर रहता था, उन स्थानों के प्रत्यक्ष दर्शन के अलावा आस-पास बसनेवाले लोगों से भी परिचय करके तथा सरकारी पुरानी फाइलों और अफसरों के भी संपर्क में आकर मेघाणी जी ने कहानी लिखी है। अतएव उन कहानियों में अधिकांश सचाई आ पाई है। किसी एक व्यक्ति के विषय में कोई एक दोहा सुनने में आया कि उसके विषय के अन्य दोहों की खोज में

वे लग जाते और उसके लिये जहाँ कहीं से जो कुछ मिल जाता एकत्र करके परिश्रम करने के बाद ही उसकी कथा लिखते थे, अन्यथा नहीं। उन्होंने दोहों को संगृहीत करके संग्रह के रूप में नहीं छापा, किन्तु एक बड़े हार में, जैसे बीच-बीच में मणियों को रखा जाता है उसी प्रकार उन दोहों या गीतों के आस-पास कथानकों की रचना करके वाचक के सामने उपस्थित किया; इससे वाचक के सामने कथानक का पात्र सजीव हो उठा। मेघाणी जी की रचनाओं की यही विशेषता है, जिससे उनका साहित्य लोक-भोग्य तो है ही साथ ही विद्वद्भोग्य भी है। पहाड़ियों के जीवन में वैर और प्रेम, बन्धुत्व और धिक्कार, दगा और दिलेरी, युद्ध और मैत्री की जो दारुण, करुण, भीषण और कोमल मस्ती है उसी का आलेखन अपने निरीक्षण और प्रतिभा के बल से मेघाणी जी ने 'सौराष्ट्र नीर रसधार' और 'सोरठना बहारबटिया' ग्रन्थों के आठ भागों में तथा 'सोरठी गीत कथा' में किया है। उन ग्रन्थों का एक-एक कथानक 'रोबिनहूड' 'आदम बेल' 'क्लोगका कील' और 'क्लाउडेस्ली का विलियम' जैसे विदेशी बहारबटियों के कथानकों से टक्कर लेनेवाले बन गए हैं या उत्तर भारत के संग्राम सिंह जैसे वीरों की याद दिलाते हैं। इन वीरों की कथाओं के उपरांत 'सोरठी संतों' में सौराष्ट्र के संतों का परिचय कराया है। इसके अलावा लोक-कथाओं के संग्रह 'पुरातन ज्योत' 'डोशीमांनी वातो', 'रंग हो बारोट', 'दादाजीनी वातो' इत्यादि ग्रन्थों में किया है।

विविध सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों में औरतें जो गीत गाती हैं, उनका संग्रह बुढ़िया और कुमारिकाओं से प्राप्त कर के 'रढियाली रात' भाग १ से ४; 'चूंदडी', 'हालरडों,' 'ऋतु-गीत' आदि में कर दिया है। उन गीतों का शुद्ध पाठ प्राप्त करना आसान नहीं था, क्योंकि ये गीत कंठस्थ ही थे, लिखे या छापे नहीं गए थे। अतएव पाठशुद्धि में जो परिश्रम उन्होंने किया है, वह उन्हीं से संभव था।

लोकजीवन में विविध व्रतों का महत्त्व अत्यधिक है। उन सभी व्रतों का मूल किसी धार्मिक ग्रन्थ में नहीं मिलता। मेघाणी जी ने उन व्रतों के विषय में जो कथाएँ लोक में प्रचलित हैं उनका संग्रह करके सजाकर 'कंकावटी' नाम से दो भाग में प्रकाशित किया है।

मेघाणी जी का प्रवास-साहित्य निराला ही है। अबतक तो, इतिहास, भूगोल, साहित्य, समाज आदि विषयों को अत्यन्त भिन्न-भिन्न समझकर ही सिखाया जाता रहा है। पर इस पद्धति से सीखनेवालों में अपने देश के प्रति सच्चा ममत्व नहीं जगता। अतएव प्रवास वर्णन में इन सबका एकीकरण करके अपने व्यक्तिगत उद्गारों का पुट देकर पाठकों को पंचरंगी मनोविहार कराते हुए मेघाणी जी ने अपना 'गिरिविहार' 'सोराष्ट्रना खंडेरोमां' और समुद्र के किनारे का पर्यटन 'सोरठने तीरे-तीरे' ग्रन्थों की रचना की है। इसलिए प्रवास वर्णन होते हुए भी ग्रन्थ इतने रोचक हैं कि उपन्यास का आनन्द मिलता है।

'नायक नहीं, नायिका नहीं, प्रेम का त्रिकोण नहीं, ऐसी सोरठी जीवन की जनकथा उन्होंने 'सोरठ तारा वहेता पाणी' नामक उपन्यास में सोरठ के समस्त जनसमाज को ही नायक बना कर लिखा है। 'वेविशाल', 'तुलसी क्यारो', 'वसुन्धराना वहाला-दवला' जैसे उपन्यासों को सोरठी जीवन की आधुनिक जो समस्याएँ हैं उनको लेकर लिखा है। गुजरात के व्यापारी और

नौकरीपेशा वर्ग के लोग बर्मा जाकर रहते हैं। पिछली लड़ाई के जमाने में बर्मा में जापानियों का जो आक्रमण हुआ उससे गुजरात का वह वर्ग बर्मा छोड़कर यहाँ चला आया। उस वर्ग के मुँह से बर्मियों और गुजरातियों का बर्मा में जैसा जीवन है, उसे सुनकर मेघाणी जी ने 'प्रभु-पधार्यी' नाम से जो उपन्यास लिखा है, वह उनकी ऐसी कृति है, जिसे पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि लेखक बर्मा का रहनेवाला नहीं है। परोक्ष दर्शन होने पर भी प्रत्यक्षदर्शी को आश्चर्य में डाल दे, ऐसा चित्रण उन्होंने उपन्यास में किया है। सात मास में इस पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालना पड़ा। इस उपन्यास में एक देश की प्रजा को दूसरे देश की प्रजा के संस्कारों को किस दृष्टि से देखना चाहिए इसकी रसमय शिक्षा दी गई है। उसमें व्यापारियों की लूटने की वृत्ति का भी चित्रण होने से कुछ लोगों ने आपत्ति की कि इससे तो परदेश में भारतीयों की अप्रतिष्ठा बढ़ेगी। इसका उत्तर उन्होंने दूसरे संस्करण में देते हुए लिखा है कि किसी भी कलाकार का धर्म यह नहीं होता कि जिनका चित्रण वह कर रहा है उनके विषय में पढ़कर सरकार या अन्य लोग क्या सोचेंगे और उससे उनको क्या हानि उठानी पड़ेगी इत्यादि बातों की चिन्ता करे। भयंकर दोषों को ढँकने के लिये किसी कलाकार को कहना, कलाविषयक अज्ञान की ही सूचना है।

लोकसाहित्य के निर्माण में चारणों की देन मामूली नहीं है। भद्रलोकों में विद्वानों का जो महत्त्व है, उससे कहीं अधिक महत्त्व जनता के लिये साहित्य की सुरक्षा और निर्माण के कार्य में चारणों का है। मेघाणी जी ने 'चारणो अने चारणी साहित्य' के विषय में गुजरात विद्यासभा में व्याख्यान देकर इस विषय का सांगोपाग निरूपण कर दिया है।

आधुनिक साहित्यरसिक विद्वानों को काव्यरस और गीतरस का पान उन्होंने 'वेणीना फूल', 'किल्लोल','युग वंदना','पीडितो नां गीतों', 'एकतारो' 'बापुनापारणा', 'रवीन्द्रवीणा' आदि गीतकाव्यों के संग्रहों में कराया है। इन काव्यों की प्रथम विशेषता यह है कि शिक्षित समाज में प्रचलित छंदों और गीतों तथा छंद-शास्त्रों के शास्त्रीय रूपों में न लिख कर, लोकसमाज जिन छंदों का और जिन राग-रागिनियों का प्रयोग करता है, उन्हीं को अपनाया गया है। 'रवीन्द्र-वीणा' में उन्होंने रवीन्द्र के चुने हुए गीत-काव्यों को लोकगीतों में रूपान्तरित किया है, जो विवेचकों की दृष्टि में एक सफल प्रयोग तो है ही साथ ही मौलिक सर्जन का रस भी गायक को मिलता है।

पुराने लोकगीतों के राग में ही उन्होंने विविध प्रसंग के उपयुक्त आधुनिक लोकगीतों का निर्माण किया है। इस तरह वे आधुनिक लोककवि बन गए हैं। उनके 'पीड़ितोनां गीतों' में पिछड़ी जातियों के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं है, किन्तु उनको कष्ट देनेवाले धनिक वर्ग के प्रति और ऐसी विषम परिस्थिति को सहन करनेवाले समस्त समाज के प्रति पुण्यप्रकोप भी है। कवि के वास्तव दर्शन ने वर्तमान जीवन कलह की भीषणता को इतना स्पष्ट किया है कि वे जगत के भूखे, नंगे, कंगाल मनुष्यों का विचार करते हुए काँप उठते हैं। उस परिस्थिति का वर्णन करने में अपनी काव्यशक्ति को भी अकिञ्चित्कर देखकर उनको लगता है कि लोगों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति जबतक न हो तबतक यह काव्यकला व्यर्थ है।' 'युगवंदना' में

उनके राष्ट्रीय गीतों का संग्रह है। हृदय को हिला देने की शक्ति उन काव्यों की एकाएक पंक्ति में है। मानवमेदनी जब उन गीतों को मेघाणी जी से सुनती थी तब उसमें शौर्य और तेज का संचार होता था और उसमें ऐसी शक्ति आ जाती थी कि उससे कुछ समय के लिये मनचाहा कार्य कराया जा सकता था। सत्याग्रह युग की एक घटना गुजरात में कभी भुलाई नहीं जा सकती। अदालत में सत्याग्रही मेघाणी जी का मुकदमा चल रहा था। उन्होंने अपने निवेदन में 'हजारो वर्षनी जूनी अमारी वेदनाओ' नामक गीत प्रभुप्रार्थना के रूप में अपनी बुलन्द आवाज से गाया। श्रोता रूप में उपस्थित मानवसमुदाय को अपनी करुणा और दयनीय स्थिति का साक्षात्कार हुआ और उपस्थित सभी की आँखों में करुणा के अश्रु बहने लगे। मैजिस्ट्रेट और अन्य पुलीस के अफसर भी अपनी आँखें पोंछने लगे और अन्त में समुदाय में जो शौर्य की लहर बह गई वह दृश्य देवदुर्लभ था।

गाँधी जी के जीवन के प्रत्येक उपवास और महत्त्व की घटनाओं के प्रसंग में उन्होंने गांधी जी का हार्द अपने काव्यगीतों में जो व्यक्त किया है, वह गांधी जी को भी चकित कर देनेवाला सिद्ध हुआ है, ऐसे गीतों का संग्रह 'गांधी जीनां पारणा' और अन्य संग्रहों में हुआ है।

लोकजीवन की इसी भूमिका के आधार से उन्होंने जो कुछ लिखा वह साहित्य में सुवर्ण बन गया। 'गुजरातनो जय' 'रा' गंगाजलियो' जैसे कई ऐतिहासिक उपन्यास, जन-जीवन से संबद्ध कई कहानियाँ, जेलजीवन से संबद्ध अपूर्व प्रतिभापूर्ण 'जेल ओफिसनी बारी' कई सामाजिक उपन्यास, नाटक इत्यादि ललित काव्यकला के निर्माण के उपरांत प्रसिद्ध लेखक अप्टन सिंकलर जैसे लेखकों की प्रसिद्ध कृतियों में से 'सत्यनी शोधमां' जैसे रूपान्तर, द्विजेन्द्र राय के नाटकों के अनुवाद का कार्य भी किया है। कुछ अंग्रेजी प्रसिद्ध चित्रपटों की कथाओं को उन्होंने अपनी प्रतिभा का पुट देकर साहित्य-जगत में जीवित करके 'प्रतिमाओ' और 'पलकारा' इन दो पुस्तकों में संगृहीत कर दिया है। 'एशियानु कलंक' 'हंगरी नो तारण हार' 'मिसरनो मुक्ति-संग्राम' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों का निर्माण, 'दयानंद' जैसे जीवन चरित्र ग्रन्थों का सर्जन, उस तरह के अन्य साहित्य में अनोखे बन गए हैं जो मेघाणी शैली के नमूने हैं।

सम्पूर्ण जीवन को देखनेवाला लेखक हास्यरस को कैसे भूल सकता है? क्षणस्थायी घटनाओं को लेकर चिरजीवी साहित्य का सर्जन कैसा होता है, इसे देखना हो तो, कटाक्ष और व्यंगपूर्ण हायरस की पुस्तक 'सांबेलाना सूर' देखना चाहिए और उनके साहित्यक विवेचनों को 'कलम अने किताब', 'परिभ्रमण' 'लोकसाहित्य' 'धरतीनुं धावण', 'वेरानमां' इत्यादि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। सर्वत्र मेघाणी जी की अपनी छाप मिलेगी।

श्री मेघाणी जी करीब पचपन वर्ष की उम्र में स्वर्गस्थ हो गए। उनका जन्म ई० १८९६ में हुआ था। ई० १९१६में बी० ए० पास करने के बाद स्कूल में कुछ काल के लिये नौकरी करने के अनन्तर उन्होंने कलकत्ते में किसी एल्यूमिनियम के कारखाने में मैनेजर का कार्य शुरू किया था। उनका एक लेख 'सौराष्ट्र' पत्र में छपने के लिये आया था, उसीसे संपादक श्री अमृत-लाल सेठ ने उनमें साहित्यकार की प्रतिभा का दर्शन करके उन्हें सौराष्ट्र में राठपुर नगर में

बुला लिया और 'सौराष्ट्र' पत्र के संपादकीय विभाग में नियुक्त किया। उनका समस्त जीवन पत्रकार के व्यवसाय में ही बीता और वे सिर्फ पत्रकार के रूप में ही नहीं, किन्तु साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में सफल कलाकार के रूप में हमारे सामने आए। गुजरात साहित्य सभा ने वाषक उत्तम साहित्य के लिये दिया जानेवाला सुवर्णपदक सर्वप्रथम श्री मेघाणी जी को ही १९२७ ई० में उत्कृष्ट लोकसाहित्य के निर्माण के लिये दिया था। उस समय उनका साहित्यिक-जीवन पूरे दस वर्ष का भी नहीं था। ऐसे सफल साहित्यकार के विकास का यह अति संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र है। उपसंहार में इतना ही कहना पर्याप्त है कि मानवहृदय से ही साहित्य का स्रोत बहता है। उस हृदय का परिचय जितना आम जनता में मिलता है, उतना तथाकथित भद्रलोक में दुर्लभ है। जिसका जनता-जनार्दन के हृदय के साथ तादात्म्य है, वह साहित्य या किसी भी क्षेत्र में कार्य करे, सफलता उसकी चेरी बन कर रहती है।*

---

*प्रस्तुत लेख लिखने में मैंने श्री मेघाणी जी के ग्रन्थगत निवेदनों के उपरान्त गुजरात साहित्य सभा द्वारा प्रकाशित वार्षिक साहित्य समालोचनाओं का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया है। एतदर्थ समालोचकों का आभार मानता हूँ।—लेखक

मालवी भाषा

श्याम परमार

भारत के मध्य में चार उपभाषाओं से घिरा हुआ मालव जनपद वर्तमान मध्य भारत प्रान्त के अन्तर्गत दक्षिण भाग में स्थित उपजाऊ और उन्नत भू-भाग है ('मालमुन्नतभूतलं')। भौगोलिक परिसीमाओं से समृद्ध यह जनपद अपने आपमें भाषा और संस्कृति की दृष्टि से स्पष्ट ही अलग प्रतीत होता है। "स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूरब में बेतवा एवं उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थीं। पश्चिम में कांठल एवं बागड़ के प्रदेश मालवा को राजपुताना तथा गुजरात से पृथक् करते थे और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा हाड़ौती प्रदेश तक पहुँचती थी। मालवा के पूर्व-दक्षिण में बुंदेलखंड और गोंडवाना के प्रान्त फैले हुए थे।"[1] यदुनाथ सरकार द्वारा लिखित औरंगजेब के समय मालवा की उक्त सीमा आज भी किसी तरह बदली नहीं है। यदि इसमें किसी प्रकार का अन्तर भी आ गया हो तो बोली के अपने स्वाभाविक प्रसार से निर्धारित सीमा में परिवर्तन होना अवश्य कठिन है। इस भू-भाग की भाषा मालवी है।

१

मालवी दक्षिण में नर्मदा नदी के ऊपर भूपाल, नरसिंह गढ़ (भू० पू० रियासत, म० भा०) राजगढ़, झालावाड़, मन्दसौर (दशपुर), नीमच, रतलाम, झाबुआ आदि क्षेत्रों को अपने में मिलाती हुई फैली हुई है। यद्यपि मालवी का अधिकांश क्षेत्र मध्यभारत प्रान्त के अन्तर्गत आता है तथापि राजनीतिक सीमाओं के बाहर वह राजस्थान के कुछ भाग पर भी अपना प्रभाव रखती है। मुख्य रूप से मालवी म० भा० के इन्दौर, उज्जैन, देवास, मन्दसौर और राजगढ़ जिले में बोली जाती है।

शासकीय व्यवहार की भाषा यद्यपि हिन्दी है, पर गाँवों और नगरों में, साधारण रूप से घरों में मालवी का ही व्यवहार सामान्यतः मिलता है। इसके बोलनेवालों की संख्या एक करोड़ के लग-भग कूती जाती है। प्रकृति और स्वभाव के नाते मालवी सरल, धर्मभीरु, सौन्दर्यप्रिय और स्वस्थ लोगों की बोली है।

मालवी बोली शौरसेनी प्राकृत की सरणि से होती हुई अवन्ति-अपभ्रंश से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है। यद्यपि मध्यवर्ती शाखा के अन्तरंग वर्ग की भाषाओं में राजस्थानी भी शौरसेनी से सम्बन्धित है तथापि यह धारणा विवादास्पद है कि मालवी राजस्थानी उपशाखा की एक बोली है। विवाद या मतभेद का मुख्य कारण जार्ज ग्रियर्सन का वर्गीकरण है। ग्रियर्सन के पूर्व भारतीय भाषाओं एवं उपभाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किसी ने समग्र रूप से प्रस्तुत

१—इन्डिया ऑफ औरंगजेब से उद्धृत, मालवा में युगान्तर, पृष्ठ २६३-८२।

नहीं किया था। सन् १९७७–८ में 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया' की बृहद् जिल्दों में ग्रियर्सन ने राजस्थानी और उसके उपभेदों पर प्रकाश डालते हुए मालवी के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने सुविधा के लिये राजस्थानी को ५ मोटे वर्गों में विभक्त किया। चौथा वर्ग 'दक्षिण पूर्वी राजस्थानी' अर्थात् मालवी का है जिसके मुख्य रूप-भेद 'राँगड़ी' और 'सोंडवाड़ी' बताए गए हैं। प्रसिद्ध भाषाचार्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने यह उचित समझा कि राजस्थानी को दो पृथक् शाखाओं में विभक्त कर दिया जाय— (१) पूर्वी शाखा (पछाँही हिन्दी) और (२) पश्चिमी शाखा। वे टेसीटरी के विचारों के आधार पर यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि 'सूक्ष्मतर वैयाकरण दृष्टि के कारण... राजस्थान-मालवे की बोलियों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा [1]।' साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मेवाती, निमाड़ी के साथ मालवी भी पछाही हिन्दी से 'ज्यादातर सम्पर्कित' है। किन्तु इतने कथनमात्र से चली आती हुई धारणा में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

'प्राकृत-चन्द्रिका', 'कुवलय माला', आदि में दी गई अपभ्रंशों की अनुसूची, जिन्हें देशी भाषा भी कहा गया है, मालवी का उल्लेख अवन्ति-भाषा के रूप में मिलता है। यही अवन्ति-भाषा आधुनिक मालवा (अवन्ति जनपद) की प्राचीन भाषा थी, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है। इसे कहीं-कहीं 'अवन्तिजा' से भी सम्बोधित किया गया है। उपलब्ध प्रमाणों से वर्तमान मालवी तत्कालीन 'अवन्तिज' ही सिद्ध होती है। यद्यपि इतनी बड़ी कालावधि ने दोनों के बीच बाह्य रूप से एक अन्तर उपस्थित कर दिया है, तथापि अपभ्रंश साहित्य की कविताओं में सैकड़ों 'अवन्तिजा' के ऐसे शब्द मिलते हैं जिनके किन्ही अंशों में बिगड़े रूप आधुनिक मालवी में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। सिद्धों की कविताएँ इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। उसमें कुछ शब्द तो अपने असली रूप में मिल जाते हैं।[2] इससे विश्वास होता है कि अवन्ति भाषा का अपना अलग साहित्य अवश्य रहा है। पृथ्वीधर, राजशेखर, आदि आचार्यों ने अवन्तिजा के प्रयुक्त होते रहने के कई उदाहरण अपने ग्रन्थों में दिए हैं।[3] निश्चय ही ई० पू० १००० के आस-पास मालव आर्यों का

१—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, राजस्थानी भाषा, पृष्ठ ६-१०

२—हिन्दी काव्य धारा; तहि चड़ि णाचअ डोम्बि बापुड़ी। ...कण्हपा, पृ० १५०
(चढ़ी, बापड़ी)
,, ; मारिअ साँसु नणँद घरें शाली। ... ,, ,, ,,
(सासु, नणँद, घरे)
,, ; बेट्टा-बेट्टी परिणाविज्जहिं। ... जिनदत्तसूरि, ,, ३५४
(परणाना=विवाह करना)
,, ; थल-डूँगर पाहणसघण, कक्कर कंट तुसार। ... अज्ञानकवि, ,, ४७४
(थल-डूँगर, कंकर, तुसार)

३—'अवंति भाषा पठकौ वीर चंदनकौ, प्राच्य भाषा पठको विदुषकः इत्यादि।
'आवन्त्याकाये यादिसत्तमः'

मालवा तक प्रसार हो चुका था। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं भी मालवी के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता; फिर भी आर्यों की बोली जो उत्तर तक उनके साथ आई दक्षिण की ओर उनके बढ़ जाने से दक्षिण मालवा (अवन्तिदेश) तक प्रचलित हो गई होगी। आगे चलकर गुप्तों के साम्राज्य के पश्चात् स्पष्ट ही लोकसभा की शक्ति का ज्ञान हमें उपलब्ध प्रमाणों से मिलता है। १४वीं या १५वीं शताब्दी तक आते-आते अधिकतर ऐसी जनभाषाओं का रूप निर्धारित हो गया। उन निर्धारित रूपों में मालवी अवश्य ही कहीं रही है। डा० सुनीति बाबू ने मालवी के सम्बन्ध में लिखा है—"मालवे की बोली के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि दरअसल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है; पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ोसी मारवाड़ी राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ राजस्थानीपन आ गया है। ईसा के पूर्व की शतियों में, बुद्धदेव के समय से, मध्य देश से जो भाषा और सभ्यता की धारा दक्षिण की ओर चली थी, उसने जाकर जब मालव देश को जय कर लिया था, तब मानो कि वहाँ आर्यभाषा की कोई धारा नहीं पहुँची थी।"[1] यहाँ प्रश्न यही है कि मालवी पर राजस्थानी असर भले ही हो, पर वह उसकी उपबोली नहीं है। दोनों का सम्बन्ध दूर कहीं एक हो सकता है, पर आगे चलकर दो भिन्न धाराओं के दर्शन हमें होते हैं। पड़ोसी भाषा का धर्म दोनों में है, पर संस्कार दोनों के दो भिन्न संस्कृतियों से प्रभावित हैं। विषय अभी विवादरहित नहीं हुआ। भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म नियमों की कसौटी पर यह भिन्नत्व अवश्य अधिक साफ नज़र आएगा। जो हो, १० वीं शताब्दी के लगभग 'अविन्त-भाषा' 'मालवी-वाणी' के रूप में लोक-व्यवहार की भाषा मालवा में बन गई थी। 'कुवलय-माला' की निम्न गाथा में मालवी के प्रयुक्त होने का सूत्र हमें मिल जाता है—

'भाउअ भाइणी तुम्हें
भणतोथ मालवीयान् दृष्टवान्।'

२

मालवी कोमल और कर्णप्रिय बोली है। इसमें कई भाषाओं के शब्द स्वाभाविक रूप से इस तरह आ मिले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। मालवा भारत का मध्य और आवागमन, व्यापार आदि का महत्त्वपूर्ण भाग रहा है, अतएव कई जातियों और उनकी विभिन्न संस्कृतियों से यहाँ के निवासियों का सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क के फलस्वरूप कई तरह के बाहरी शब्द मालवी में आ मिले। परस्पर प्रभाव का दूसरा रूप यह है कि यही बात अन्य भाषाओं पर भी घटित होती है। सैकड़ों मालवी शब्द पंजाबी, मराठी, बुंदेलखंडी, राजस्थानी, भोजपुरी,[2] मैथिली आदि में मिलते हैं।

१—राजस्थानी भाषा—पृष्ठ ५७ :

२:—भोजपुर परगने में नयका और पुरनका नामक दो गाँव उज्जैन और धार के परमार वंशीय राजपूतों द्वारा ११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच मालवा से आकर अधिकृत किए गए थे। डा० बुकानन ने भी बुकॅनन जनरल (पटना १६२६) में इस बात का उल्लेख किया है। मालवी शब्दों का भोजपुरी में पाए जाने का यह भी एक कारण हो सकता है क्योंकि यहाँ से जाने के बाद वे वहाँ बस गए थे।

ध्वनि सम्बन्धी कतिपय राजस्थानी नियम मालवी पर अवश्य लागू होते हैं; किन्तु शब्दों को कोमल बनाने का स्वभाव उतनी ही मात्रा में मालवी में विद्यमान है। कठोर वर्ण राजस्थानी की अपेक्षा मालवी में कोमल होकर स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। कुछ ऐसे नियम भी मालवी में खोज करने पर मिलते हैं, जिनकी ध्वनि का विश्लेषण अभी अध्ययन का विषय है।

मालवी के 'स्टेन्डर्ड' रूप का निर्णय विवाद का विषय नहीं है। केवल ऊपरी तौर पर कुछ प्रयोग-भिन्नत्व के कारण उपभेदों का प्रश्न उपस्थित होता है। ये भेद प्रमुख स्थानों से सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं; जैसे—रतलामी मालवी, मन्दसौरी मालवी, राजगढ़ी मालवी, सोंद्वाड़ी, आदि। भेद की दूसरी पहचान सर्वनामों और क्रियापदों के प्रयोग से हो जाती है। केवल 'मैं' के लिये 'हूँ', 'म्हे', 'म्हूँ', 'मे', अथवा 'उनके' के लिये 'वनके', 'विनके', 'विनखे', 'वणीके', अथवा 'तुमको' के लिये 'तमके', 'तमारके', 'तमखे', आदि रूप सहज मिल जाते हैं। क्रियापद 'कहा' के 'कियो', 'कयो' 'कहयो' रूप प्रचलित हैं। ऐसे कई रूप केवल भेद की जिज्ञासा उपस्थित करते हैं।

सुविधा के लिये मालवी के पाँच रूप निर्धारित किए जाने चाहिए। आदर्श या 'स्टेन्डर्ड' मालवी का क्षेत्र तो निर्धारित है ही जो केवल उज्जैन जिले (जिसमें कुछ देवास और इन्दौर के भी भाग हैं) तक सीमित है। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अंग्रेज ईसाइयों ने अपने धर्म-प्रचारार्थ भारतवर्ष की भाषाओं और बोलियों में बाइबिल के अनुवाद तैयार किए तब कलकत्ते के समीपवर्ती श्रीरामपुर केन्द्र के ईसाई विद्वान् केरी, वार्ड और मार्शमन ने उज्जैन की मालवी को उपयुक्त और मालवा में सर्वग्राह्य समझ कर उसमें बाइबिल के कुछ भागों का अनुवाद किया। उन्होंने उसे मालवी न कहकर सर्वप्रचलित नाम 'उज्जैनी' ही स्वीकार किया। इससे प्रगट है कि 'उज्जैनी' अपने स्थानानुसार 'अवन्तिजा' की वंशजा के रूप में चल रही है और वही 'स्टेन्डर्ड' मालवी है।

'बारह कोस पर बोली बदले' कहावत के अनुसार मालवी के अनेक छोटे-छोटे उल्लेख न करते हुए 'उज्जैनी' के चार और भेद हम प्रस्तुत करते हैं जो उज्जैन को केन्द्रबिन्दु मानकर क्रमशः दिशाओं के सूचक हैं।

१—उत्तरी मालवी (राजस्थानी-मारवाड़ी से प्रभावित); क्षेत्रः—रतलाम, जावरा, नीमच, मन्दसौर।

२—दक्षिणी मालवी (निमाड़ी से प्रभावित); क्षेत्रः—नर्मदा का उत्तर प्रदेश।

३—पूर्वी मालवी (बुंदेलखंडी से प्रभावित हाड़ौती, उमटवाड़ी, झालवाड़ी); क्षेत्रः—झालवाड़ा, नरसिंहगढ़ और पश्चिम भोपाल क्षेत्र।

४—पश्चिमी मालवी (गुजराती से प्रभावित); क्षेत्रः—जेबट, अलिराज पुर तक।

(तळाव)

१ ऊँची तो पाळ तळाव की ओ ढोका
नीची पिछोका की बाट

मारूजी बेगा आवो म्हाका राज
आपकी तो ओळूँ में करूँ हो ढोला
म्हाके करे अने कोय
मारूजी बेगा आवो म्हाका राज
कागत होय तो बाँचला हो ढोला
करम नी बाँच्या जाय
मारूजी बेगा आवो म्हाका राज

(बीरा)

२　गुया माथकी पीपळई रे बीरा
चूनर लावजे माड़ी जाया
चूनर लावजे सरु लावजे
बी तो रहिजे अपणा देस
सम्पत थोड़ी बिपत घणी हो बेण्या
कणिपत आऊँ म्हारे दुवार
माड़ी जाया चूनर लावजे. . .
ककड़ माथे पीपल रे बीरा
अणी पर चढ़ जोऊ तोरी बाट
३　माड़ा जायो चूनर लावीया
लाविये तो सब सारू लइयो
नी तो रहियो तोरे देस
मेलूँ वोढाल भराई रे बीरा
ओढूँ तो हीरा झर पड़ै
नापूँ तो हाथ पचास
माड़ा जायो चूनर लावीयो।

३ अ　झालावाड़ी प्रभाव

(बना)

बनाजी थां के घूँघर माल
पाँवा का तेवर बाजणा रेवनड़ा
बनाजी थाँ का हाथ में हय्यो रुमाल।
पाँवा की मेंदी राचणा रे बना
थे तो वड़ चल्या अधरात
भारी सूती नगरी ओज की रे बना

(गर्बा गीत)

४ ताँबा ना लोट्या भर्‌या जल से
पीवानो वालो परदेस छे
बई, म्हारो कान्हो कलेजारी कोर छे
कोरे छे कोर छे रे
म्हारी सोना री अगूठी ऊपर मोर छे

इसके अतिरिक्त शहरी और ग्रामीण मालवी में थोड़ा सा भेद खड़ी बोली के प्रभाव स्वरूप आ जाता है। गाँवों में प्रचलित लोकगीत शहरों में अपनी असली शब्द-योजना खो बैठते हैं। ऊपर दिए गए गीत टकसाली मालवी के नहीं हैं; फिर भी जो बोली जहाँ तक जाती है वहीं तक उसका क्षेत्र मानना चाहिए। जहाँ तक बोली का स्वभाव और संस्कृति न बदले वहाँ तक उसकी सीमा को समाप्त नहीं समझना चाहिए। लोकगीतों को छोड़कर साधारण व्यवहार की भाषा पर यह प्रभाव अधिक पड़ता है। मालवी के प्रसिद्ध हास्य-लेखक श्रीनिवास जोशी की मालवी पर शहरी-पन की साधारण छाप है। उदाहरणार्थ:—

'बड़ी कठिनता से दोई उठ्य ने एक दूसरा खे समालता हुआ आगे बढ़्या। घरे आया तो दासाब की जोर से बकने की आवाज आणे लगी 'हजार बखत तमके कियो के छोरा एकला हे। रात बेरात के अकेला भेजणो इनखे। पण म्हारी सुणे कोण है। हूँ तो पगलो हूँ। बड़ा छोड़ो नी, छेड़ो नी चइये करीने चिल्लाय, पण लुगई सम्हालने की ताकत तो चइये। नी हे ताकत को लई क्यों फिरे साँते ? क्यों बे आब्रू कराओ अपणी ने, क्यों बदनाम करो घराणा को नाम ?' ('सासू जी रिसायगा' कहानी से)[1]

अथवा

मंत्री म्हारा लाड़ला दौरा पै जायरे भइ।
दौरा पै जाइने भत्तो कमायरे भइ॥
दिनभर अँईंबंईं मोटर में भटके,
साँची को तो खटके ओर लगे लायरे भइ॥
जेल ने खादी थोड़ी सी बादी,
बाकी बरबादी यूँ राज चलायरे भइ॥[2]

'स्टैंडर्ड' मालवी अथवा उज्जैनी की कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

पण पगे पगे पड़ोसी पेमाजी पोंचाणे अईग्या।
टिकट को काम बिकट, टीकाराम खे साँते लईग्या॥

१—'नई दुनिया' विशेषांक, इन्दौर; १९५१
२—'विक्रम' मासिक, उज्जैन; जुलाई, १९५२।

पुचकारी ने पेमाजी पट पट आँसू पटके।
टीकाराम ठक टक देखीने, अँई का बँई टकटे ॥
'जा जल्दी भाजे बेटा रम्बा !
मँगई लाँगा मोर मणे का आया हे,
अच्छा आवेगा आँबा ॥"
सुणो रामा जी, खबर कीजो
कदी भगवान नी करे,
ने तमारी डोकरी आजकाल मेज मरे।
भय्या दुख-सुख को काम सगा सोई लेज सरे ॥"[1]
(आनन्दराव दुबे)

३

उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मालवी में पुस्तकों के लिखे जाने के प्रमाण मिलते हैं। यों अभी छोटी रियासतों की दबी हुई राजकीय सामग्री अथवा पंडित-पुरोहितों के पुराने घरों में पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करने पर कदाचित् हमें मालवी-साहित्य की महत्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है जो पुस्तकें छपकर सामने आईं उनकी तीन कोटियाँ हैं। प्रथम कोटि में उज्जैन के पहले माचकार (मालवी लोक-नाट्य-लेखक) गुरु बालमुकुन्द की 'माँच' की पुस्तकें, जो सन् १९०० ई० के लगभग प्रकाशित होकर बाजार में आईं, स्थान पाती हैं। इन पुस्तकों में वही 'माच' छपे हैं, जो लिखकर खेले गए और जनता के प्रिय विषय बने। उन्हीं दिनों कालूराम उस्ताद ने भी 'माच' लिखे और संगीत के प्राधान्य के कारण उन्हें भी प्रसिद्धि मिली। दोनों की माचकारों की परम्परा अभी जीवित है। अब तो मालवा के बाहर भी राजस्थान, बुंदेलखंड तक में 'माचो' के खेले जाने का रिवाज चल पड़ा। मालवा में 'माच' की प्रियता ज्यों-ज्यों बढ़ी नए माचकारों ने नए 'माच' लिखे और अपनी परम्परा चलाई। केवल उज्जैन में इस दृष्टि से ६–७ माच के अखाड़े हैं और सभी अखाड़े के गुरु कोई न कोई माचकार है।

प्राचीन माचों की कथावस्तु पौराणिक, धार्मिक और शृंगारिक हुआ करती है। नवीन माचों में यह बात सामाजिक जीवन से अधिक प्रभावित है। माचों के खेले जाने का अपना खास ग्रामीण टेकनीक है।- वेश-भूषा, पात्र-व्यवस्था और ढोलक का साथ तीनों ही बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

दूसरी कोटि में धर्मसम्बन्धी पुस्तकें हैं। गुप्त-ज्ञान-सार, तत्त्वज्ञान-गुटिका, नित्यानन्द विलास आदि भजन की पुस्तकें लोगों के घरों में मिल जाती हैं।

तीसरी कोटि की स्फुट रचनाएँ हैं जिनमें 'लक्ष्मीकांत पदावलि', 'पंडित पच्चीसी', 'शिवलीलामृत', श्रीनारायण जी व्यास कृत 'कुंडलियाँ', नायक कवि कृत 'मास्टर साहब की अनोखी छटा' और 'भारत में थू और फू नाटक', श्रीनिवास कृत 'वारे पट्ठा भारी करी',

---

[1]—'वीणा' मासिक, इन्दौर; जून, १९५२।

श्री सू० ना० व्यास कृत 'मालवी मेघदूत' आदि पुस्तकें स्थान पाती हैं। फुटकर रूप से कई कवियों ने मालवी में कविताएँ और कहानियाँ लिखी हैं। इस दृष्टि से आनन्द राव दुबे, प्रकाश उप्पल, बाबूलाल भाटिया, योगी आदि प्रमुख हैं।

मालवी का लोक-साहित्य अपने आपमें समृद्ध और अध्ययन का विषय है। पिछले १० वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है और सम्भवतः आगामी कुछ वर्षों में एक बड़ी संख्या में गीत, कथाएँ, लोकोक्तियाँ आदि लिपिबद्ध किये जाने की सम्भावना है। मा० लो० सा० परिषद् के कार्य इस दिशा में विशेष महत्त्व के सिद्ध होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

जनपदीय आंदोलन

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

जनपद आन्दोलन हिन्दी के लिये आज नया नहीं है। जनपदों का अध्ययन और उस अध्ययन के प्रकाशन के कार्य को प्रारम्भ करने का यदि श्रेय किसी को दिया जा सकता है तो हमारे विदेशी लेखक जिन्होंने काश्मीरी, नेपाली, भोजपुरी, मैथिली आदि विभिन्न भाषाओं व उनके लोक साहित्य का अध्ययन किया तथा उनपर विशद समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे, परन्तु वे ग्रन्थ मुख्यतया अंग्रेज़ी में थे। लेखकों में सर जार्ज ग्रियर्सन, सर एच. एम. इलिएट, श्री सी. ई. गोवर, डा० टेसीटोरी, श्री कैरी, मार्शमेन, वार्ड, बीन्स, डा० कैलो, हार्नले और डा० टर्नर आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इन भाषाओं के सम्बन्ध में कार्य किया। इनमें श्री तरुदत्त, श्री दिनेशचन्द्र सेन, श्री नटेशा शास्त्री आदि विद्वान थे। परन्तु ये सारे ग्रन्थ और यह ज्ञान-राशि अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई। हिन्दी भाषा के माध्यम से जनपदीय साहित्य के अध्ययन का श्रीगणेश अपेक्षाकृत बाद में प्रारम्भ हुआ। इन लोगों ने हिन्दी क्षेत्र की बोलियों से सम्बन्धित लोक-गीतों आदि के कार्य का प्रारम्भ किया। उनमें सबसे पहला ग्रन्थ सन्तराम जी का पंजाबी गीतों के सम्बन्ध में है। कुछ मारवाड़ी सज्जनों ने मारवाड़ी गीत संग्रह "मारवाड़ी गीतमाला" अथवा "मारवाड़ी गीत" नाम से कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। पर सर्वश्री मदनलाल वैश्य, ताराचन्द ओझा, सीताराम माली अथवा निहालचन्द वर्मा का मुख्य उद्देश्य मारवाड़ी गीतों का अध्ययन करना नहीं था बल्कि मारवाड़ से बाहर बसे हुए मारवाड़ियों तक उन गीतों को पहुँचाना मात्र है। लोक-गीतों का कार्य हिन्दी में विधिवत् प्रारम्भ करने का श्रेय श्री रामनरेश त्रिपाठी को है। उन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर गीतों का संग्रह किया और गीतों को "हिन्दी कविता कौमुदी" के ५वें भाग में उपस्थित किया। "कविता

कौमुदी" के इस भाग का न केवल ऐतिहासिक महत्त्व है बल्कि अब तक हिन्दी क्षेत्र की अनेकानेक बोलियों में एकत्र गीतों का यह एक बड़ा संग्रह है। श्री रामनरेश त्रिपाठी के बाद इस कार्य को अखिल भारतीय स्तर पर उठाने का श्रेय श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को प्राप्त है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी पंजाबी भाषाभाषी हैं और उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों की यात्रा कर ग्राम्य गीतों का संग्रह किया परन्तु उनके द्वारा हिन्दी क्षेत्र के अनेकानेक गीत प्रकाश में आए। सत्यार्थी जी ने अपने गीतों को "विशाल भारत" के माध्यम से और बाद में अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी जगत् के समक्ष उपस्थित किया।

अभी तक जनपदीय साहित्य का कार्य व्यक्तिगत रूप से ही हुआ था। इसी व्यक्तिगत कार्य में हम राजस्थान के विद्वानों की चर्चा करना आवश्यक समझते हैं। राजस्थान के अनेकानेक लोगों ने, जिनमें बूंदी के कविराज मुरारदान तथा पं० रामकरण आसोपा प्रारम्भकर्ता थे, राजस्थानी का कोष तथा व्याकरण बनाया। यही नहीं उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन भी किया। ठाकुर भूरसिंह शेखावत ने राजस्थानी कविता को जिसमें लोकप्रिय राजस्थानी दोहे थे, विविध संग्रह के नाम से प्रकाशित किया। श्रीयुत रामनारायण दगड़ और मुंसिफ देवीप्रसाद ने राजस्थानी साहित्य के कई संकलन ग्रन्थ छपवाए। पुरोहित हरिनारायण ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अधीन "बालाबक्ष राजपूत चारण ग्रन्थमाला" की स्थापना कराई जिससे राजस्थानी के अनेकानेक ग्रन्थ छपे। परन्तु वर्तमान राजस्थानी के वर्तमान लेखकों में ३-४ के नाम उल्लेखनीय हैं। ये हैं:—ठाकुर रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारिख, श्री नरोत्तम दास स्वामी, श्री अगरचन्द नहाटा तथा भंवरलाल नहाटा। इन्होंने शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट अखिल भारतीय राजस्थानी साहित्य सम्मेलन, 'राजस्थान भारती' आदि के माध्यम से राजस्थानी भाषाओं पर बहुत-सा साहित्य प्रकाशित किया। श्री सीताराम लालस ने डिंगल गीतों का विशाल संग्रह तैयार किया और श्री गणपत स्वामी पारिख राजस्थानी लोक-गीतों के कार्य में लगे रहे। श्री मुरलीधर व्यास, डा० दशरथ शर्मा तथा श्री जगजीत सिंह गहलोत ने राजस्थान के लोक-गीतों, कहावतों और सोरठाओं आदि का सम्पादन और प्रकाशन किया।

राजस्थानी के सम्पन्न समर्थकों के प्रयत्न से कलकत्ते में राजस्थानी रिसर्च सोसाइटी, राजस्थानी साहित्य-परिषद्, शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, राजस्थानी साहित्य पीठ आदि नाम की कई संस्थाएँ स्थापित हुईं और 'राजस्थानी साहित्य', 'चारण' तथा 'राजस्थान भारती' नाम की पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं।

उदयपुर के हिन्दी विद्यापीठ ने राजस्थानी का कार्य हाथ में लिया, जिसके प्रयत्नों से एक शोध पत्रिका भी प्रकाशित हुई। इस संस्था के प्रमुख कार्यकर्ताओं में श्री जनार्दन राय नागर, श्री मोतीलाल मिनारिया, श्री दुर्गाशंकर शक्तावत तथा श्री बलवन्त सिंह मेहता रहे हैं। अभी तक हिन्दी की विभिन्न बोलियों में परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक प्रकाशित कार्य राजस्थानी में ही हुए।

फरवरी १९२४ के 'विशाल भारत' में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यक्रम पर एक अग्रलेख लिखते हुए यह सुझाव दिया था कि हिन्दी साहित्य

सम्मेलन के प्रान्तीय सम्मेलनों को जागृत कर दिया जाय और ब्रज-साहित्य मण्डल, बुन्देलखण्ड साहित्य परिषद्, अवधी-साहित्य परिषद् जैसी संस्थाएँ बना दी जायँ, जो वहाँ का साहित्य-कार्य कर सकें। यद्यपि उनका इस प्रस्ताव में मुख्य संकेत इन क्षेत्रों में साहित्य का कार्य करने के लिये था और यह भी उद्देश्य नहीं बताया गया था कि वे मुख्य रूप से ग्रामीण भाषाओं का कार्य करेंगे, परन्तु जनपदीय साहित्य का संगठन बनाने का आधार जनपदीय साहित्य की महत्ता स्वीकार करना भी था। उदाहरण के लिये उन्होंने उस लेख में लिखा था कि "अबकी बार हमें कुछ ग्रामीण लोगों की बुंदेलखण्डी भाषा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और हमारा दृढ़ विश्वास है कि बुंदेलखण्डी ब्रजभाषा के समान मधुर है, यद्यपि उसमें अजमेरी जी तथा कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त तो उसे ब्रजभाषा से अधिक कोमल और मधुर मानते हैं। बुंदेलखण्डी भाषा का भी एक कोश तैयार होना चाहिए। सैकड़ों शब्द बुंदेलखण्डी में विद्यमान हैं जो हमारी पुस्तकों की भाषा में नहीं पाए जाते। उन्हें प्रयोग में लाने की जरूरत है। संस्कृत से शब्द गढ़ने की अपेक्षा यह कहीं बेहतर है कि प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया जाय। इस प्रकार का कार्य बुंदेलखण्ड साहित्य-परिषद् ही कर सकती है। यही बात अवधी भाषा और अवधी साहित्य मण्डल के सम्बन्ध में कही जा सकती है।" उनके इस अग्रलेख तथा तत्सम्बन्धी आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने दिल्ली अधिवेशन में यह निश्चय स्वीकार किया कि "राष्ट्रभाषा हिन्दी की विस्तृत वृद्धि और साहित्य सम्मेलन के कार्य और उद्देश्य का संगठित प्रचार करने की दृष्टि से यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन और महत्त्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्रों में मंडल सभा स्थापित की जाय जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरन्तर कार्य करती रहे।" इस निर्णय के पश्चात् आगरा में ब्रज साहित्य मण्डल और टीकमगढ़ में बुंदेलखण्ड साहित्य मंडल की स्थापना की गई। परन्तु ये मण्डल विशेष कार्य नहीं कर सके। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने मार्च १९४० में टीकमगढ़ में ब्रज और बुंदेलखण्ड के कार्यकर्ताओं की एक बैठक की, जिसमें एक स्कीम पेश की जो अप्रैल १९४० के "विशाल भारत" में "हम क्या करें" शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस स्कीम में उन्होंने फिर बोलियों के क्षेत्र में मण्डल संगठन स्थापित करने पर ज़ोर दिया और इसके पश्चात् बुंदेलखण्ड साहित्य मंडल नाम की एक संस्था भी स्थापित हो गई। गढ़वाल में इसी समय गढ़वाली साहित्य परिषद् की स्थापना हुई, जिसका तो कार्य अब भी हमारे सामने है। गढ़वाली साहित्य परिषद् ने गढ़वाली भाषा के लोक-गीतों का संग्रह "गढ़वाली पखाणा" के नाम से प्रकाशित किया। इसके साथ ही साथ गढ़वाली व्याकरण पर भी कुछ कार्य किया गया और गढ़वाल के प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में कुछ सामग्री तैयार हुई तथा लेख लिखे गए।

गढ़वाली लोक परिषद् का काम यद्यपि कम हो गया पर किसी न किसी रूप में वह अब भी विद्यमान है। लोक साहित्य के सम्बन्ध में दो अन्य जनपदों में भी कुछ काम चल रहा था। यह कार्य वस्तुतः निर्माण कार्य था। भोजपुरी में प्रो० मनोरंजन ने "फिरंगिया" नाम से एक कविता की, जो भोजपुरी की ही नहीं हिन्दी का गौरव है। उस कविता ने भोजपुरी

साहित्य की शक्ति को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से जनता के समक्ष रखा। भोजपुरी की पड़ोसी मैथिल में मैथिल साहित्य परिषद् की स्थापना हुई और वहाँ पर मैथिल का कार्य चलने लगा। मैथिल का मुखपत्र ही नहीं निकला, पुस्तकें और पाठ्य पुस्तकें तक तैयार हुईं और मैथिल अब कलकत्ता विश्वविद्यालय में एम. ए. की पढ़ाई के लिये एक भाषा मान ली गई। श्रीराम एकबालसिंह राकेश ने मैथिल लोक-साहित्य का अध्ययन किया। उनके लेख तथा पुस्तकों के प्रकाशन से मैथिल लोक-साहित्य जनता के समक्ष आया। जुलाई १९४० में बनारसीदास जी का एक लेख "नाम माहात्म्य" के व्रजांक में प्रकाशित हुआ। उस लेख में व्रजसाहित्य मण्डल की स्थापना के लिये व्रज के कार्यकर्ताओं से एक अपील थी। हिन्दी साहित्य परिषद्, मथुरा ने उक्त अपील के उत्तर में एक उप-समिति नियुक्त कर दी, जिसका संयोजक इन पंक्तियों का लेखक था। उक्त समिति के प्रयत्न से व्रज मण्डल के कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। शरद् पूर्णिमा को मथुरा में व्रज साहित्य मण्डल का प्रथम सम्मेलन बुलाया गया, जिसका सभापतित्व सर्वश्री हरिशंकर जी शर्मा तथा जैनेन्द्र कुमार ने पहले व दूसरे दिन किया। इस सम्मेलन ने व्रज साहित्य मण्डल की स्थापना का निश्चय किया। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल मण्डल के प्रथम सभापति चुने गए और श्री सत्येन्द्र प्रथम प्रधान मंत्री। कुछ समय पश्चात् मण्डल ने 'व्रज भारती' नाम की एक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। तब से अब तक १२ वर्ष पर्यन्त यह मण्डल लोक-साहित्य का संकलन, अनुशीलन और संवर्द्धन का कार्य चलाता जा रहा है। इस मण्डल के प्रारम्भिक विधान में तो यह शर्त रखी गई थी कि सदस्य शुल्क के स्थान पर ग्राम-गीत, ग्राम-कहानियाँ, कहावतें अथवा शब्द अधिक पसन्द किये जायेंगे। मण्डल की ओर से व्रज लोक-संस्कृति तथा लोक-कथाओं पर दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकीं। यही नहीं लोक गीतों और अन्य तत्सम्बन्धी सामग्री का मण्डल के पास अच्छा भण्डार है। मंडल के कार्यकर्ताओं ने व्रज के सर्वांगीण जनपदीय जीवन में सहयोग देने का प्रयत्न किया। वहाँ के वनों की रक्षा, स्थानीय कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन, स्थानीय विभूतियों का सम्मान, रास-रसिया आदि प्राचीन लोकनृत्यों का संवर्धन उसके द्वारा होता रहा है। जनपदीय कार्य करनेवाली जितनी संस्थाएँ हैं उन सबमें सबसे अधिक नियमबद्ध कार्य इस संगठन के द्वारा हुआ और इसके प्रयत्न के फलस्वरूप इसके हाथरस के अधिवेशन के अवसर पर अन्तर जनपदीय परिषद् की स्थापना हुई। मण्डल के कार्यकर्ताओं में सर्वश्री डा० सत्येन्द्र, श्री चंद्रभान राधे राधे, श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव आदि अनेक कार्यकर्ताओं ने जनपदीय साहित्य का अच्छा कार्य किया है, यहाँ तक कि मण्डल ने इस कार्य के लिये एक कार्यकर्ता शिविर तक चलाया।

१ अक्तूबर १९४० को बुंदेलखण्ड में भी 'मधुकर' पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और थोड़े समय पश्चात् बुंदेलखण्डी विश्व कोश का कार्य भी आरम्भ हो गया। टीकमगढ़ के मधुकर केन्द्र से न केवल बुंदेलखण्ड के लोकगीतों, लोक-कथाओं, कहावतों, मुहावरों आदि के संकलन का कार्य हुआ बल्कि उनका प्रकाशन भी बड़े प्रभावशाली ढंग से किया गया। यही नहीं, इस केन्द्र से समस्त जनपदीय जीवन को जागृत करने के लिये एक जनपदीय आन्दोलन भी प्रारम्भ किया गया। उस आन्दोलन के फलस्वरूप हरद्वार के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव १८ मई १९३४ को स्वीकृत हुआः—

"इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है, जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशुपक्षी, वनस्पति, ग्रामगीत, जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहाँ की उपज का अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। उस समिति में निम्नलिखित विद्वान हों:—सर्वश्री वासुदेव शरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, चन्द्रबली पाण्डे, अमरनाथ झा, जैनेन्द्र कुमार, सत्येन्द्र। इस समिति को अधिकार होगा कि आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों को भी सम्मिलित कर ले तथा जिस जनपद में वे कार्य करें, वहीं के चार सज्जनों को इस समिति में सम्मिलित कर लें।"

प्रस्ताव तो स्वीकृत हो गया, किन्तु समिति की कोई बैठक नहीं हो सकी। परन्तु जो जनपदीय आन्दोलन चल निकला उसके फलस्वरूप विभिन्न जनपदों में कार्य प्रारम्भ हो चुका था। छत्तीसगढ़ में श्री श्यामाचरण दुबे ने छत्तीसगढ़ साहित्यपरिषद् की नींव डाली और छत्तीसगढ़ लोकगीत नाम की एक कविता-पुस्तक प्रकाशित भी कर दी थी। साहित्य सम्मेलन को भी न केवल मैथिल लोकगीत बल्कि भोजपुरी लोकगीत तथा अन्य प्रान्तीय लोकगीतों पर पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ीं। बाद में तो सम्मेलन ने अपने जिला संगठनों को जनपदीय साहित्य सम्मेलन नाम दे दिया, यद्यपि उससे जनपदीय आन्दोलन को कोई विशेष सहायता मिली हो यह नहीं कहा जा सकता।

इन १२ वर्षों में जनपद आन्दोलन, आन्दोलन की शकल में न रहा हो पर, जनपदीय कार्य काफ़ी आगे बढ़ा है। भोजपुरी क्षेत्र में डा० उदयनारायण तिवारी, श्री गणेश चौबे, श्री परमेश्वरीलाल गुप्त, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, श्री दुर्गाशंकर सिंह, आदि सज्जनों ने भोजपुरी लोकसाहित्य का बहुत-सा काम किया है। भोजपुरी की एक पत्रिका भी निकली जो भोजपुरी भाषा में ही प्रकाशित होती है। अवधी साहित्य परिषद् की स्थापना हुई और उसकी ओर से अवधी का व्याकरण, लोकगीत, कहावतें आदि का बहुत बड़ा संग्रह तैयार है, जिसका श्रेय श्री वंशीधर शुक्ल, श्री रामाज्ञा द्विवेदी "समीर", श्री कृष्ण बिहारी मिश्र, श्री भागीरथ मिश्र, श्री नवल बिहारी मिश्र आदि को है। बुंदेलखण्डी क्षेत्र में श्री कृष्णानन्द गुप्त ने "लोक वार्ता" नामक पत्रिका निकाली, जिसने लोकसाहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का सूत्रपात किया। "लोकवार्ता" जब तक चली अपने विषय की प्रमुख पत्रिका रही और उसके प्रयत्न से विभिन्न जनपदों के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। श्री कृष्णानन्द गुप्त के अतिरिक्त श्री शिव-सहाय चतुर्वेदी ने बुन्देलखण्डी लोक कहानियों का प्रकाशन 'मधुकर' द्वारा प्रारम्भ किया। बाद में इनके दो संग्रह पहले गुजराती में छपे; फिर हिन्दी में। श्री कृष्णानन्द गुप्त की 'ईसुरी की फागें' प्रकाशित हुईं। और श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' तथा अम्बिका प्रसाद वर्मा 'दिव्य' ने ईसुरी पर बहुत-सा कार्य किया। द्विवेदी जी का तो दो हज़ार फागों का संग्रह तैयार है। श्री चन्द्रभान विशारद ने बुंदेलखण्डी लोकगीतों का बहुत बड़ा संग्रह तैयार किया और श्री हरि-गोविन्द गुप्त ने लोक कहावतों तथा शब्दों का। इनके अतिरिक्त भी बुंदेलखण्ड में अनेक कार्यकर्ताओं ने यह कार्य आरम्भ किया और इनकी रचनायें 'मधुकर' तथा अन्य पत्रों द्वारा हिन्दी जगत् के समक्ष आती रही हैं। बघेलखण्ड में रघुराज साहित्य परिषद् ने 'बांधव पत्रिका'

के द्वारा बघेली साहित्य की ओर ध्यान दिया और इसी प्रकार का प्रयत्न पन्ना की 'विन्ध्य-भूमि' ने भी किया था। परन्तु यह पत्र भी काल-कवलित हो गए। हाँ, लाल लखनप्रताप सिंह 'उरगेश' का संग्रह तैयार है।

मालवी में श्री सूर्यनारायण व्यास ने मालवी साहित्य तथा संस्कृति के पुनरुत्थान का कार्य "विक्रम" द्वारा उठाया। तत्पश्चात् श्री श्याम परमार ने मालवी लोकसाहित्य परिषद् की स्थापना की और मालवी लोकगीतों का एक संग्रह भी संकलित करके प्रकाशित किया। निमाड़ीभाषा के लिये कोई दस वर्ष पूर्व श्री विश्वनाथ खोड़े ने खरगोन से एक पत्रिका निकाली थी। परंतु इस संबंध में सबसे अधिक नियमबद्ध कार्य श्री रामनारायण उपाध्याय ने किया है जिनका निमाड़ी लोकगीत नाम का ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है। राजस्थानी में इस बीच 'अरावली', 'राजस्थानी' आदि अनेक पत्र प्रकाशित हुए। राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के उत्साही कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों से राजस्थान लोकसाहित्य का ही नहीं, लोकनृत्य का अध्ययन व प्रचार भी प्रारम्भ हुआ और उससे देवीलाल सामर के नेतृत्व में भारतीय लोककला मण्डल की स्थापना हुई जो राजस्थानी लोकनृत्यों को पुनर्जीवित करने के लिये प्रयत्नशील है। डा० श्यामाचरण दुबे को छत्तीसगढ़ी क्षेत्रों से दूर हो जाने के कारण छत्तीसगढ़ क्षेत्र का कार्य जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका, किन्तु फिर भी यह काम रुका नहीं है।

संथाली भाषा के साहित्य के अन्वेषण के लिये हिन्दी विद्यापीठ (देवघर) के तत्त्वावधान में एक संथाली अन्वेषण परिषद् है। उसके अध्यक्ष हैं श्री ठाकुर प्रसाद सिंह। श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, जी ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से संथाली गीतों, कथाओं और कर्मकाण्ड का अध्ययन किया है। परिषद् ने तीन सौ संथाली गीतों का संग्रह सम्पादित किया है, जो प्रेस में है। उन्होंने बहुत से संथाली गीतों का हिन्दी में पद्यबद्ध अनुवाद भी किया है। कुछ संथाली शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन और इतिहास भी प्रस्तुत किया है।

संथाली भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिये बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में एक संथाली समिति गठित की गई है। संथाली समिति का मुख्य उद्देश्य देवनागरी लिपि में मौलिक और लोकसाहित्य सम्बन्धी पुस्तकों का प्रकाशन है। बिहार में मैट्रिक परीक्षा में संथाली भाषा को एक वैकल्पिक विषय के रूप में लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बिहार सरकार 'होड़ सोम्वाद' नामक संस्थाली भाषा का साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित करती है। पाँच वर्ष से यह साप्ताहिक पत्र देवनागरी लिपि में चार पृष्ठों का छपता है। इसके सम्पादक श्री डोमनसाहु 'समीर' (दिवाकर साहु 'समीर') हैं। 'समीर' जी ने संथाली भाषा में महात्मा गांधी की जीवनी, बालकाण्ड रामायण, 'सेदाय गाते' और 'संथाली प्रवेशिका' (दो भाग) की रचना की है। इसके अतिरिक्त संथाली भाषा, जाति, समाज, आर्थिक स्थिति, कर्मकाण्ड, साहित्य और कला पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर रहे हैं, जिनमें संथाली जाति का सम्पूर्ण अध्ययन होगा है। यही नहीं, 'समीर' जी संथाली व्याकरण, संथाली हिन्दी शब्दकोश, संथाली शब्दकोश, और संथाली जाति का इतिहास भी लिखने की सामग्री जुटा रहे हैं।

स्व० श्री शोभाचन्द जोशी ने कूर्माचल साहित्य मण्डल की स्थापना के लिये प्रयत्न किया था ताकि वहाँ के गुमानी जैसे कवि और मोलाराम जैसे चित्रकारों का उचित मूल्यांकन हो सके। परन्तु यह आन्दोलन कुछ आगे नहीं बढ़ सका।

इस बीच लोकसाहित्य के सम्बन्ध में एक और नई दिशा फूटी। अखिल भारतीय रेडियो की ओर से लखनऊ तथा दिल्ली रेडियो स्टेशनों पर देहाती कार्यक्रम होने लगे। इन देहाती कार्यक्रमों में अवधी तथा हरियानी भाषाओं का कुछ साहित्य सामने आया। अवधी की दिशा में तो कार्य काफी अच्छा हुआ और स्व० बलभद्र दीक्षित, बुद्धभद्र दीक्षित, वंशीधर शुक्ल तथा चन्द्रभूषण सिंह जी ने अवधी भाषा के शक्तिशाली माध्यम द्वारा लोकप्रिय रचनाएं उपस्थित कीं। हरियानी में ऐसा कुछ नहीं हो सका। उसमें वहाँ की स्थानीय विभूतियों को चमकने का अवसर नहीं दिया जा सका। इसके अतिरिक्त रेडियो ने विभिन्न लोकगीतों का सप्ताह में एक बार प्रदर्शन किया। इसके लिये लोकगीत एकत्र किए गए, पर इस दिशा में भी ईप्सित सफलता तक कार्य आगे नहीं बढ़ा।

इस वातावरण के बीच पिछले अप्रैल में ब्रजसाहित्य मण्डल के हाथरस अधिवेशन के अवसर पर हिंदी जनपदीय परिषद् की स्थापना हुई। १९४० में भी जनपद आन्दोलन का श्रीगणेश ब्रज तथा बुन्देलखण्ड के कार्यकर्ताओं की एक संयुक्त बैठक में हुआ था। पिछले डेढ़ वर्ष से श्री बनारसीदास चतुर्वेदी विभिन्न जनपदीय कार्यकर्ताओं को एक स्थान पर बुलाने की चर्चा कर रहे थे और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने काशी में बुलाने का निमंत्रण भी दिया। इसी बीच हाथरस में ब्रज साहित्य मण्डल का अधिवेशन करने का निश्चय किया गया। हाथरस में इस बात की सुविधा हो गई तथा ऐसे साधन हो गए कि विभिन्न जनपदों से दो-एक कार्यकर्ताओं को बुलाकर चर्चा की जा सके। सौभाग्य से राष्ट्रपति ने भी हाथरस आने में अपनी सहमति दे दी और यह स्वीकार किया कि वह विभिन्न जनपदीय कार्यकर्ताओं से परिचय प्राप्त करेंगे। अतएव राष्ट्रपति के सान्निध्य में अन्तर जनपदीय परिषद् की स्थापना हुई। जनपदीय कार्यकर्ताओं का सम्मेलन पहले दिन ४ अप्रैल ५२ को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ। दूसरे दिन की बैठक का सभापतित्व डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने किया था। इन बैठकों में विभिन्न जनपदों के कार्यकर्ताओं ने परिषद् को चलाने के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए, जिनके फलस्वरूप एक संविधान स्वीकृत हुआ तथा निश्चय हुआ कि परिषद् की कार्यविधि इस प्रकार की हो जिससे वर्तमान स्थानीय संगठनों के कार्य में कोई बाधा नहीं पहुँचे, प्रत्युत सहायता ही मिले। हाथरस अधिवेशन में जनपदीय भाषाओं के अतिरिक्त खड़ीबोली के भी प्रसिद्ध ख्यालबाज श्री नारायण आनन्द जी उपस्थित थे और हाथरस के सुप्रसिद्ध भगत तथा मथुरा के रसिया का भी प्रदर्शन किया गया। इन आयोजनाओं के बीच ब्रज के लोकगीत, लोकनृत्य तथा नाट्य के वातावरण में हिन्दी जनपदीय परिषद् की स्थापना हुई जो कि जनपदीय आन्दोलन में एक नया कदम है।

—:०:—

बुंदेली कहावतें

हरगोविन्द गुप्त

सिद्धि श्री सर्वोपमा लायक, सकल सुख-दायक, गंगाजल निर्मल धोती[१] पवित्र-बंश के भगीरथ कुल के दीपक, काशी महा शुभ स्थाने बिराजमान, सकल गुण-निधान, बेद-मूर्ति पत्री श्री भाई वासुदेवशरण जू अग्रवाल व श्री भाई बैजनाथसिंह जू 'बिनोद' एवं समस्त लघु बाल गोपाल नाम जोग[२] लिखी चिरगाँव से हरगोबिन्द नगरिया की हाथ जोर[३] जैजै श्री सीताराम बांचने। आपर दोनों तरफ के सुख-समाचार श्री ठाकुर जू महाराज सदा भले राखें। अपरंच[४] पाती[५] आपकी मिली समाचार जान आनन्दी[६] भई। हिन्दी जनपदीय परिषद् की पत्रिका जोग बुंदेलखण्डी लेख लिखबे की मरजी[७] है तो ठीक पै[८] मोय[९] जा बात नइँ[१०] जंचत[११] कै[१२] जां अपुन[१३] जैसे ज्ञानवानन के देस-परदेश की भाषा, संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान की खोज-बीन के अनहोने[१४] लोख हुँये[१५] उतै[१६] मोरी[१७] बुंदेलखण्डी किस्सा कांनाते[१८] "**गंगा की गैल[१९] में मदारन[२०] की कथा**" का नोंनी[२१] लगें? और का[२२] कोऊ भलो आदमी उन्हें बाचबे-सुनबे[२३] खों[२४] तैयार हुए?

एक बात जा[२५] और जांने चाउत कै[२६] का मैं आप गुनी जनन के संगै चल पैं हों[२७] कऊँ[२८] बा हाई[२९] नां होय कै[३०] "**हंस की चाल टीटरी[३१] चलै, टांग कढ़ोर[३२] डांग[३३] में गिरै**" सोजई[३४] सोचम्-गतम्[३५] में लिखबे की औज[३६] नइं बंधत, भीतर बारे में कछू कचाई दिखात, पै जब आप चार हितुअँन[३७] त्यांई देखत तौ मन कै उठत "**चढ़ जा बच्चा सूली पै भली करेंगे राम**" और फिर ऊसेई[३८] में अपने पारछे[३९] की एक कॉंनात[४०] "**सूते के संगै जोरियाँ[४१] बिकतीं**' को ख्याल आउत सो फिर सोचत कै जब ऐसियइ बात है तब कायेन चार बढ़िन के संगे पाँचैं सबार बन दिल्ली पौंचें, सो जोई सब आँगो-पीछो सोच कें इतै-उतै की चार झूंठी-सांची जोर कें "**अण्ड को मृदङ्ग**" बनाएं देत पै भैया एक डर जो और है कै, जो न

१—धौत, धोया हुआ, २—योग्य, हेतु, ३—जोड़, ४—आगे, ५—चिट्ठी, ६—प्रसन्नता, ७—आज्ञा, ८—परन्तु, ९—मुझे, १०—नहीं, ११—समझ में आना, १२—कि, १२—आप, १४—अनुपम, १५—होंगे, १६—वहां, १७—मेरी, १८—कहावतें, १९—मार्ग, २०—मदार साहब मुसलमानी देवता, २१—अच्छी, २२—क्या, २३—पढ़ने-सुनने, २४—को, २५—यह, २६—कि, २७—चल सकूँगा, २८—कहीं २९—वह दशा, ३०—न हो कि, ३१—टिटहरी, ३२—खचोर-घसीट, ३३—जंगल, ३४—इसी, ३५—सोच-विचार, ३६—हिम्मत, ३७—हितैषियों की ओर, ३८—ऐसे ही, ३९—आस-पास के ग्रामों में, ४०—कहावत, ४१—कांस की रस्सी, मूंज।

होंय के "रो-रो कुकरियन गीत गाए खरकन हाँसी आई" में तो कलम धिस-धिस मरौं और पढ़बे बारिन खो मनै न भावे सो बोई[1] हाल होय के "चेरी[2] जोव सें गई राजा कें रोनी भई" सो भैया रूपक तो मैं बना सकत पै 'भींत[3] पै चवेडर' कर काम जोग[4] बना लेबौं तो आप समझदारन कौ काम है।

अकेलैं मालिक एक बात जा तौ और बताई जाय कै आज-काल के "छुक्-छुक् छैंयाँ-छैंयाँ" और हवा में उड़बे बारे मलमल के लाल दुपट्टा के झकोरन में का कोऊ अपनी जे बातें सुन है? काये[5] कै आज तो सब की 'मुकती-माँय[6]' हो रई, काऊ के मन में काऊ की 'हींस-हाँस[7]' नई रै गई, सब अनबाँदी लकड़्याँ[8]' हैं। आदमी 'खेत की कें खरयान[9] की सुनत' जां देखोजा अपुनयाई[10] और अपनी ढपली अपनों राग' होख, जी देश में कछू दिनां पैलें 'आप खाय हरक्कत[11] बाँट खाय बरक्कत[12]' की बात हती, अब ओई देस में 'अपुन खाँय-औरे ग्यास बतायँ' हो रौ। काऊ ऐ काऊ की 'हीर-पीर[13]' नई रै गई, सब अपनी-अपनी डाड़ी खों मुसरका दे रै[14]" जान्तै कै सुराज भै पै देस में धन-सम्पत के संगे संगे आदमियन के आचार-विचार सोऊ सुधरैं, सब में ईमानदारी और सबकी समता-ममता हुए, विद्या-बुद्ध को पसारो[15] हुये पै भैया का बताई जाय बे सब बातें तो 'घोकंतइ[16]' रै गए और इतै जिये देखो सो चाय[17] बो अबैनों कऊँ कैसोऊ कोऊ रौ होय कछू करत-कराउत रौ होय पै अब आज बोई 'मुक्खेस[18]' बनबे फिर रौ, सबके मुसीका[19] खुल गए सो जैसो जी के मन में आउत सो बरौत[20] फिरत और फिर अपुन जानतइ हो, कै जैसो गुसांई जू कै गये कै,

जो कर झूठ मसखरी जाना, कलियुग सो गुणवन्त बखाना,
मारग सोई जा कहँ जो भावा, पण्डित सोई जो गाल बजावा।

लोगन की "आँखें चेंथरी पै चढ़ गई[21]" सब अपने घरै राजै डांड़ रै" काये के "अपनें द्वारें कुत्ता नार होत सो जब काउ ए काऊ को डर नई रै[22] गव, और तब ई "बारा बिच्छू की बेदना में" परकें नेता और हाकिम कोऊ सुचिन्ते होकें कछू नई कर पा रै, इतै के उतै 'बाई के बेर अढाई सेर' करत फिर रै, और फिर उनको सब करो कराव 'भुसको लीपनों[23]' हो रौ, जिये देखो सो लखनऊ-दिल्ली को टिकट लैं फिरत और अपने लाने कोनैंऊ पोल ढूंढबे खों दूसरे की खूंदें-पोलें ढूँढ रौ। पोल की बात सें मोय[24] अपनी चंदिया[25] को एक किस्सा याद आगओ, सुनों जाय।

१—वही दशा, २—चिड़िया, ३—दीवार पर चित्र बनाना, ४—योग्य बना लेना। ५—क्यों, ६—स्वतंत्रता है, ७—भय, ८—अनुशासनहीन, ९—खलिहान, १०—अपनापन, ११—हानि, १२—लाभ, १३—दुखदर्द, १४—स्वार्थ सिद्ध करना, १५—प्रसार १६—विचारते ही १७—चाहे, १८—प्रधान, १९—मुंह बन्द करनेवाला उपकरण जो बैलों को बाँधा जाता है। २०—स्वप्न में कही जानेवाली बात, २१—अहम् आने पर बगैर आगा-पीछा सोचे चलना, २२—रह गया, २३—बेकार होना, २४—मुझे, २५—जनपद।

कछू दिनां पैले[१] की बात है, एक चलतौ-फिरतौ[२] आदमी एक राजा के दरबार में पोंचौ, मुजरा[३] कर चाकरी के लाने बिनती करी, मरजी[४] भई कै अबै तो काऊँ कौनऊँ काम है नइँया, फिर जब कौनऊ जांगा हुए तब देखी जै। बिन्तवार बोलो, अन्नदाता को बड़ो राज है, हजारन पोलन में लाखन को पलावरौ[५] हो रओ, का मैंई एक ऐसो अभागो हों के—'**करमहीन कलपत रहे कल्प वृक्ष की छाँह**'।

राजा म्हाराजन के लाने आगे से चली आई के उनके आगे तनक 'मों की सुफलाई'[६]—में झूंठी सांसी बड़ाई करके जां तनक फुलै दो फिर जो मनैआवे सो ले लेव, सो जांईनें तनक म्हाराज की बड़ाई करी के बे तुरतंई 'ढुरे[७] और पसीज' कें बोले जा भाई ऐसी बात है तो जा तेंई कोंनऊ पोल ढूंढ़ कें घुस जा, बिन्तवार ने म्हाराज को मुजरा बजा जै जै बोलत घरै आव, घरै आकें सोच-विचार के गुन्ताड़ौ[८] लगा भोर उठकें और दो तीन ठलुअन[९] सों चोकीदार-चपरासी बना जां सें राज की हद्द लगत्ती नदी के छियारें[१०] नीम के गुल्ला[११]-तरें चौंतरा[१२] बना बैठ गो[१३] और डोंडी[१४] पिटवा दई के जो कोऊ बाहर को परदेशी राज में घुसै, पांच रुपैया आदमी के हिसाब से चौंतरा[१५] चुक कें मुहर छाप लगवा राज के भीतर पाँव धरे।

ई डोंडी से पैलें तो हल्ला मचौ, अकेलें हाकिम की लठिया के आगें सबके मौन-बाजे बन्द हो जात सो जां इन्नें राजा को हुक्म बताव सोई सब देन लगे, काए कै गैलारिन[१६] के लाने और चारोंह[१७] का हतो[१८] को तो अपनी गैल खोटी कर कें नाकदार सें, घरी दो घरी टण्टौ[१९] करतौ और फिर जब कौनऊ 'धार-पार' न परती[२०] तो फिर कौ थाने-कचेरी के घटोरिया[२१] पूजत फिरतौ और फिर दै जोगत (दैवयोग) कऊँ '**बांडी नें बाँडोइ जाव**'[२२] तो का सार, जासें धीरें-धीरें सब देन लगे। और इनकी गल-गल[२३] दम्मे उड़न लगीं। होत करत एक दिनाँ ओई[२४] गैल होकें राजा के सारे-साराज अपनो फौज-फांटो ले कें कडै, और जैसेई बे बिना रुकें गैल धरें सपाटौ बाँदें जान लगै सोई इन्नै ललकार कें डोला रुकवा चौतरा चुकबे की बात कई।

कुँअर साब (राजे के साले को कुँअर साहब कहा जाता है) ने कामदार खों नाके पै पोंचा ई नये टिक्कस[२५] को पतौ-ठिकानों पार कें अपनों नाव-पतो दें टिक्कस दैवे की इनकारी करी। तब नाकेदार ने कुँअर साब के ढिगां[२६] जा मुजरा कर कें बिनती करी के, दीनबन्द, जो तो राज को हुकुम है सो सबै खों मानने पर है और सरकार इतैं सें ऐंन चले जायँ पैं आगे की चौकी से फिर लौटने पर है। जासें मोरेई ऊपर काये खों इतराजी कराई जाय।

१—पहले, २—चट, ३—प्रणाम, ४—आज्ञा, ५—पालन-पोषण, ६—सामने मीठी-मीठी बात करना, ७—द्रवित हुए, ८—गुन के, समझ कर,सुभीता लगा, प्रबन्ध कर, ९—बेकार आदमी, १०—किनारे, ११—छोटे पेड़ के नीचे, १२—चबूतरा, १३—बैठ गया, १४—ढिंढोरा, १५—एक टैक्स, १६—रास्ता चलनेवाले, १७—उपाय, १८—था, १९—झगड़ा, २०—निर्णय न होता, २१—अदालतों में काम करनेवाले देवता, २२—जैसे का तैसा हुआ, २३—आनन्द होने लगा, २४—उसी नदी के घाट पर पुजने वाले देवता, २५—टैक्स, २६—पास।

राजा के सारे खों बात जच गई सो उनने गाँव में आई डोरी का माते का कोटी सीच खरचीदार[1] खों हुकुम दे कें सबकी चौतरां चुकवा करया पैं सिक्का[2] लगवा अपनी गैल धरी, और बैनोऊ[3] नों पौंच[4] सबरो हाल बताव।

राजा सुनकें रै गये, उनकी समज में न आई कै जा का बात है—काये कै उननें तो कोनऊ ऐसो टिक्कस लगावनोई[5] हतो[6] सो उन्ने[7] हालई परवानो[8] लिख सांड़िया[9] पौंचा[10] नाकेदार की तलबी[11] करी। और जैसेंई नाकेदार आव सो बातें सब बिदी[12] बार बतावे खों कई।

नाकेदार ने 'दाँते-तिनृका[13]-गरें गिरमाल' लै के बिन्ती करी अन्नदाता को राज है, मारें चाय पालें, अकेलें बात सो ऐसी है के कछू दिनन पैलें मैंने दरबार में चाकरी के लाने बिनती करी ती तब मरजी भई ती कै कौनऊ पोल ढूंढ कें घुस जा सो सिरकार की हजारी उम्मर, बड़ो राज होय, मोय जा पोल मिली और मैं घुस गव।

राजा पैलें तो नाकेदार पै गुस्सां भये, अकेलें जों ऊने गरेरू[14] भरके बिनती करी सोई फिर पसीज गए, और उए[15] जा[16] पोल में से काढ़[17] गुजारे को और इन्तजाम लगा अभी दव[18]"।

और भैया इतराजी[19] माफ होय तो मैं कैंव[20] के ठीक कछू ऐसोई आज काल हो रौ, जिए देखो, बोई, अपनी धत्त-पत्त[21] लगावे खों-'अरुआ नातौ-परुआ गोत' [22] 'कोऊ राजा को सारौ-कोऊ रानी कौ सारौ' बन 'अपनो सोटा[23] रंगरौ' अब अपनई बताओ कै का ऐसे में कोई अपनी भाषा-संस्कृति की बातें सुनें? और फिर मोरी ठलवाई[24] की किस्सा कानातन[25] त्यांई[26] तो मोरे जान कोऊ हेरै सुंदा[27] नईं काए कै उन में तो—

"किस्सा सो झूंठी ना, बात सी मीठी नां, घरी घरी के बिसराम, जांने सीताराम" के सिवाय और धरोई[28] का है।

सो भैया मोरी तो अपुन सब जनन सें जेई[29] बिनती है कें[30] जे संस्कृत-फंस्कृत और भाषा-बासा की बिरथां की बिबूचनें[31] छोड़ कौनऊ अच्छी पोल ढूंढ घुसजाव और 'राजे[32] कछारो" और फिर एकाध पोल मोय बतादो सो जा मोरी रोज-रोज की घर-बार की 'कोपत चिथेया'[33] बचा गुलछर्रे उड़ाँव[34] फिर आंगें जब जो आहै सो सब देखीजै।

जा सें आगें अब और का बिनती करौं, थोरो[35] लिखो भौत[36] जानवी, भूल चूक सुधार माफ करबी, अपनी राजी खुसी को समाचार देत रहवीं।

१—खजानची, २—मुहर, ३—बहनोई, ४—पहुँच, ५—नहीं, ६—था, ७—उन्होंने, ८—हुक्म-आज्ञापत्र, ९—ऊँट पर आने वाला, १०—भेज, ११—पेशी, १२—ब्योरेवार, १३—विनम्र होकर, १४—रुद्धकण्ठ हो, १५—उसे, १६—इस, १७—निकाल, १८—दिया, १९—गुस्सा, २०—कहूं, २१—स्वार्थ सिद्धि के लिए, २२—बिना किसी सम्बन्ध के सम्बन्ध जोड़ना, २३—स्वार्थ साधन करना, २४—बेकार भी, २५—कहावतें, २६—तरफ, २७—देखना तक नहीं, २८—रक्खा ही, २९—यही, ३०—कि यह, ३१—झंझटें, ३२—मौज करो, ३३-परेशानी, ३४-आनन्द करूँ, ३५-थोड़ा, ३६-बहुत।

प्रश्न

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भगवान्, तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में,
अपने दूत भेजे हैं
वे कह गए हैं, क्षमा करो,
कह गए हैं, प्रेम करो—अन्तर से विद्वेष का विष नष्ट कर दो।
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तो भी आज दुर्दिन के समय
उन्हें निरर्थक नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही लौटाए दे रहा हूँ।
मैंने देखा है—गोपन हिंसा ने
कपट-रात्रि की छाया में निःसहाय को आहत किया है,
मैंने देखा है—प्रतिकारविहीन जबर्दस्त के अपराध से
विचार की वाणी चुपचाप एकांत में रो रही है,
मैंने देखा है—तरुण बालक उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है,
बेकार ही पत्थर पर सिर पटक कर मर गया है—
कैसी घोर यंत्रणा है उसकी!
आज मेरा गला रुँध गया है,
मेरी बाँसुरी का संगीत खो गया है,
अमावस्या की कारा ने मेरे संसार को दुःस्वप्नों के नीचे लुप्त कर दिया है,
इसीलिए तो आँसूभरी आँखों से
तुमसे पूछ रहा हूँ—
जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं,
उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है?—
उन्हें क्या तुमने प्यार किया है?

—:०:—

लोकसाहित्य का अध्ययन

हजारीप्रसाद द्विवेदी

[१]

हमारे देश में 'पौर' (नगर के रहनेवाले) और 'जानपद' (गाँवों में रहनेवाले) लोगों में अन्तर तो बहुत पहले से स्वीकार कर लिया गया था, परंतु आज के यंत्रयुग में शहरों और गाँवों के जीवन में जैसा अन्तर आ गया है, वैसा पहले कभी नहीं आया था। प्राचीन ग्रंथों में 'लोक' और 'वेद' या 'लोक' और 'शास्त्र' का भेद तो स्वीकार किया गया था, परन्तु 'लोक' की किसी अलग संस्कृति और उसके किसी पृथक् साहित्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'लोक-साहित्य' और 'लोक-संस्कृति' जैसे शब्द बहुत हाल में प्रचलित हुए हैं। पुराने आचार्य लोग विद्वानों द्वारा अनुशीलित और गुरु-शिष्य परम्परा से प्रचारित परिष्कृत ज्ञान और आचरण को 'शास्त्रीय' कहते थे और जन-साधारण के व्यावहारिक ज्ञान और अल्प परिष्कृत परम्परा-लब्ध आचरण को 'लौकिक' कहते थे। जन-जीवन से संबद्ध होने के कारण लौकिक आचार प्रत्यक्ष और यथार्थ होते हैं और बौद्धिक विवेचना और धार्मिक विश्वास पर आधारित आचार अप्रत्यक्ष फल देनेवाले और आदर्श। नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में अनेक 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' प्रवृत्तियों का उल्लेख है। शास्त्रकार ने उस स्थल पर नाट्यधर्मी शब्द से परिष्कृत रुचि के लोगों में रूढ़ि रूप में स्वीकृत (कनवेंशनल) नियमों का संकेत किया है और 'लोक-धर्मी' शब्द से साधारण जनता में व्यवहृत होनेवाले आचार परम्परा को (रियलिस्टिक)। इस प्रकार केवल ज्ञान और आचार के क्षेत्र में ही नहीं रसानुभूति के क्षेत्र में भी लोक और शास्त्र का अन्तर प्राचीन काल में स्वीकृत हो चुका था।

'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचिसंपन्न सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जिला रखने के लिये जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं। परन्तु कभी-कभी अपरिष्कृत और शास्त्र-बहिर्भूत भाषा और आचार को 'ग्राम्य' भी कहा जाता था। बहुत बाद में यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक हो गई थी। हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के दो भेद किए हैं। एक शास्त्रीय और दूसरा ग्राम्य। ग्राम्य अपभ्रंश में ही उन्होंने 'डोम्बिका' 'हल्लीसक', 'रासक' 'श्रीगदित' आदि काव्य-रूपों को गिना था। आजकल इन्हीं रूपों को 'लोक-साहित्य' कहा जाता। तुलसीदास जी ने जिस भाषा में रामचरितमानस लिखा था उसे 'गिरा ग्राम्य'

कहा था । आजकल तुलसीदास जी की रामायण को 'लोकसाहित्य' नहीं माना जाता । वस्तुतः आजकल हम जिस श्रेणी के साहित्य को लोकसाहित्य कहते हैं वह सारा-का-सारा पुराने आचार्यों द्वारा न तो कभी उपेक्षित ही समझा गया था और न उस सारे-के-सारे साहित्य को जिसे हम लोकसाहित्य नहीं कहते कभी शास्त्रीय और समादर योग्य ही माना गया था ।

वस्तुतः हम लोकसाहित्य शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'फोक लोर' और 'फोक लिटरेचर' शब्द के अर्थ में अधिक करते हैं और अपने पुराने आचार्यों द्वारा प्रयुक्त साधारण जनता में प्रचलित व्यावहारिक ज्ञान और आचार के अर्थ में कम । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक यूरोप में लोकसाहित्य (फोक लोर) को पुरातत्त्व का ही अंग माना जाता था । उसका आरम्भ मानव-विज्ञान के साधन के रूप में हुआ था और उसी के साथ वह दीर्घकाल तक जुड़ा रहा । 'फोक लोर' शब्द का प्रथम व्यवहार डब्ल्यू० जे० थॉम्स ने किया था । कहते हैं कि उन्हींके शक्तिशाली लेखों ने इस शब्द को समूचे यूरोप में प्रचारित किया और अब यह समूचे यूरोप में विशुद्ध मानव-विज्ञान से थोड़े भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है । भिन्न-भिन्न देशों में यह शब्द कुछ विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है । स्टिथ थाम्पसन ने लिखा है कि फ्रांस और स्कैण्डिनेविया में यह शब्द परंपरा से चले आते हुए गृहनिर्माण-शिल्प, कृषि-विषयक नियम और विश्वास, वस्त्र-वयन-कला जैसे उद्योगों के अर्थ में व्यवहृत होता है और इंग्लैण्ड में जनता के किसी वर्ग के लिखित या अलिखित परंपरा, सौंदर्य की अभिव्यक्ति तथा रसानुभूति के तौर-तरीकों के अर्थ में । हमारे देश में इस शब्द के तौल पर गढ़े हुए 'लोकसाहित्य', 'ग्रामसाहित्य' आदि शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ इन्हीं अर्थों में होने लगा है । जिन देशों में लोकसाहित्य की छान-बीन बहुत सावधानी से की जा रही है वहाँ भी भिन्न-भिन्न विद्वानों में यह मतभेद दिखाई देता है कि क्या-क्या बातें लोकसाहित्य (फोक लोर) में स्वीकार की जायँ और क्या-क्या उसके बाहर रखी जाँय । कुछ विद्वान् जिस चीज़ को लोकसाहित्य कहते हैं उसे दूसरे विद्वान् वैसा नहीं मानना चाहते । परन्तु साधारणतः लोककथानकों, लोकगीतों, अन्धविश्वासों, प्रादेशिक निजंधरी कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों को इस साहित्य का विवेच्य विषय माना जाता है । फ्रांस और स्कैंडिनेविया में जिन परंपरा प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को 'फोक लोर' माना जाता है वे लोक-साहित्य शब्द से सूचित नहीं हो पाते । उनके लिये अपने देश के कई विद्वानों ने 'जन-संस्कृति', 'लोक संस्कृति' जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक उचित समझा है । इस प्रकार इस देश में लोक-साहित्य का प्रयोग तो साधारण जनता में प्रचलित आलोचित शब्दमय साहित्य को कहा जाने लगा है और लोक-संस्कृति लोक-जीवन से संबद्ध शिल्प-कलाओं को ।

शुरू-शुरू में यूरोप के विद्वानों ने आधुनिक सभ्यता के कारण बनी हुई जटिल समाज-व्यवस्था को समझने के लिये आदिम जातियों के विश्वासों, कथानकों, लोकगीतों और रीति-रस्मों की जानकारी का संग्रह और अध्ययन शुरू किया था । पिछले सौ वर्षों में इस प्रयत्न के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री का संग्रह हुआ है और उसके फलस्वरूप मानव-विज्ञान

और समाज-विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का जन्म हुआ है। आज हम सभ्य और नागरिक कहे जानेवाले लोगों के अनेक प्रकार के सामाजिक नियमों, बौद्धिक आलोचनाओं, सामाजिक विधि-निषेधों और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के मूलरूप को आसानी से समझ सकते हैं और अनेक सामाजिक रोगों का निदान और उपचार करने की परिस्थिति में हैं। धीरे-धीरे विद्वानों ने अनुभव किया कि केवल आदिम और असभ्य समझी जानेवाली जातियों के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन पर ही बहुत अधिक बल नहीं देना चाहिए, उन लोगों के साहित्य और संस्कृति का भी अध्ययन होना चाहिए जो अपेक्षाकृत अधिक सभ्य हैं और नागरिक जीवन के संपर्क में आ सके हैं। इस प्रकार उनका ध्यान नगरों से दूर गाँवों में फैली हुई उस जनता की ओर गया जो न तो आदिम श्रेणी की जातियों की भांति पिछड़ी हुई हैं और न यंत्रयुग की सुविधाओं और आधुनिक ढंग की वैज्ञानिक और मानवतावादी शिक्षा द्वारा सुसंस्कृत नगरवासियों के समान अग्रसर ही हैं। इन्हीं विद्वानों ने साहित्य के विविध काव्यरूपों को समझने के उद्देश्य से भी ग्रामों में प्रचलित विविध वर्ग की जनता के गीतों, कथानकों आदि का संग्रह किया। गंभीर अध्ययन और मानसिक आलोड़न-विलोड़न के फलस्वरूप ऐसे साहित्य का महत्त्व निश्चित रूप से स्वीकृत हो गया। अब लोकसाहित्य केवल नागरिक जन की जटिल समाज-व्यवस्था और बौद्धिक विवेचना का आवश्यक साधन ही नहीं माना जाता बल्कि समूची मानव जाति के विकास और गतिविधि के अध्ययन का आवश्यक अंग माना जाने लगा है। भारतवर्ष जैसे प्राचीन सभ्यता के देश में इस साहित्य का अध्ययन बहुत जटिल व्यापार है क्योंकि शास्त्रीय चिन्तन-धारा यहाँ बराबर लोक-विश्वासों को प्रभावित करती रही है और साधारण जनता के प्रचलित साहित्य रूप भी उपरले स्तर के साहित्यिक प्रयत्नों को प्रभावित करती रही है।

भारतीय शास्त्रों ने लोकप्रचलित साहित्य रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की है। नवीन छंद, नवीन गीत-पद्धति, नवीन नाट्य रूपक बराबर ही लोक-चित्त से छनकर उपरले शास्त्रीय सतह तक पहुँचते रहे हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र ने लोकप्रचलित नाटकों को भी अपनी विवेचना का विषय बनाया है। पुराने नाट्य-शास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन से यह बात प्रकट होती है। उन दिनों के अभिनीयमान नाटकों में सब प्रकार के मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपक होते थे। शृङ्गार, वीर, या करुणरस प्रधान ऐतिहासिक 'नाटक', नागरिक रईसों की कवि-कल्पित प्रेम-कथाओं के 'प्रकरण'; धूर्तों और दुष्टों का हास्योत्तेजक उपाख्यानमूलक 'भाण'; स्त्रीहीन, वीर-रसप्रधान एकांकी 'व्यायोग; और तीन अंक का 'समवकार'; भयानक दृश्यों को दिखानेवाला भूत-प्रेत पिशाचोंका उपस्थापक 'डिम'; स्वर्गीय प्रेमिका के लिये जूझ पड़नेवाले प्रेमियों की सनसनीखेज़ प्रतिद्वंद्वितावाला 'ईहामृग'; स्त्री-शोक की करुण-कथा-सम्बन्धित एकांकी 'अंक'; एकही पात्र द्वारा अभिनीयमान विनोद और शृङ्गार-प्रधान 'वीथी'; हँसानेवाला 'प्रहसन' आदि रूपक बहुत लोकप्रिय थे। फिर बहुत तरह के उपरूपक भी थे, जिनमें नाटिका का प्रचलन सब से अधिक था। यह स्त्रीप्रधान चार अंक का नाटक होता था और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। प्रकरणिका, सट्टक और त्रोटक इसी श्रेणी के हैं। गोष्ठी में

नौ-दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ अभिनय करती थीं, हल्लीश में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ नृत्य करता था। इसी प्रकार के और बहुत से छोटे-मोटे रूपकों का अभिनय होता था। परवर्ती ग्रन्थों में अट्ठारह प्रकार के उपरूपक गिनाए गए हैं। उपर्युक्त उपरूपकों के सिवा नाट्य-रासक है, प्रख्यान है, उल्लास्य है, काव्य है, प्रेंखण है, रासक है, संलापक है, श्रीगदित है, शिल्पक है, विलासिका है, दुर्मल्लिका है, भाणिका है। अचरज की बात यह है कि इतने विशाल संस्कृत-साहित्य में इन उपरूपकों में से अधिकांश को उदाहरणस्वरूप समझने के लिये भी मुश्किल से एक-आध पुस्तक मिल पाती है। कभी-कभी तो एक भी नहीं मिलती। सम्भवतः ये लोकनाट्य रूप में ही जीते हों। उदाहरण के लिये समवकार नामक रूपक का—जिसमें देवासुर-संघर्ष ही बीज होता था; नायक प्रख्यात और उदात्त चरित का (असुर ?) होता था और जिसमें तीन प्रकार के प्रेम, तीन प्रकार के कपट तथा तीन प्रकार के विद्रव तथा उत्तेजनामूलक घटनाएँ हुआ करती थीं; जिसमें बारह या अधिक अभिनेता हो सकते थे तथा जो लगभग सात सवा सात घण्टे में खेला जाता था—पुराना नमूना नहीं मिलता। वत्सराज का समुद्र-मंथन (१२ वीं शताब्दी) बहुत बाद की रचना है और भास के 'पंचविंश' नाटक के समवकार होने में संदेह प्रकट किया गया है। सात-सात घंटे तक चलनेवाले ऐसे पौराणिक नाटक को लोक-नाटक समझना ही उचित जान पड़ता है। परवर्ती काल में जब रंगमंच बहुत उन्नत हो गया होगा और कालिदास जैसे कल्प-कवि के नाटक उपलब्ध होने लगे होंगे तो ये लम्बे नाटक ऊपरले स्तर के समाज में उपेक्षित हो गए होंगे। साधारण जनता में ये फिर भी प्रचलित रहे होंगे। इनके लक्षणों को पढ़कर आजकल की रामलीला के पुराने लौकिक रूप का थोड़ा अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार 'ईहामृग' 'डिम' आदि के भी पुराने नमूने नहीं प्राप्त होते। बारहवीं शताब्दी के कवि वत्सराज ने नाट्य लक्षणों का अध्ययन करके इनके नमूने बनाए थे। इसी कवि के समवकार की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनका 'रुक्मिणीहरण' ईहामृग का उदाहरण है। परन्तु पुराना उदाहरण नहीं मिलता। स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्रकार ने केवल पुस्तकी विद्या का ही विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उन दिनों जितने प्रकार के नाटक और अभिनय प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। परवर्ती शास्त्रकारों की दृष्टि इतनी उदार और व्यापक नहीं थी।

भारतीय साहित्य का विद्यार्थी जानता है कि किस प्रकार संस्कृत, पाली और प्राकृत में लोककथानकों ने लिखित साहित्य का रूप धारण किया है। जातकों की कहानियाँ, पंचतंत्र की कथाएँ और बड्डकहा (बृहत्कथा) की निजंधरी कथाएं केवल साहित्य का अंग ही नहीं बनी हैं परवर्ती काल के अत्यन्त अलंकृत कथासाहित्य को प्रेरणा भी देती रहती हैं। सुबंधु की वासवदत्ता, और बाण की कादंबरी जैसे अत्यधिक अलंकृत साहित्य का वक्तव्य विषय गुणाढ्य की बृहत्कथा से ही लिया गया है। इस कथा का मूल रूप जो पैशाची प्राकृत में लिखा गया था जो अब खो गया है। परन्तु उसके तीन संस्कृत रूपान्तर प्राप्त हैं। सबसे अधिक परिचित रूप 'कथा सरित्सागर' है। मध्ययुग के अनेक श्रेष्ठ प्रकरणों, चंपूकाव्यों और निजंधरी कथाओं का मूल रूप लोक-कथानक हैं। कथा-सरित्सागर की प्रस्तावना में बताया गया है कि कथा का मूल वक्ता कोई अभिशप्त गंधर्व था जो शापवश विंध्याटवी में आ गया था। अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य

पंडित ने मूल रूप में कथा नगर से दूर रहनेवाले ग्राम्य या वन्य लोगों से सुनी थी। इस प्रकार भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लोकसाहित्य पर आधारित था। कहना व्यर्थ है कि यहाँ के लोक-कथानकों का अध्ययन बहुत सहज नहीं है। न जाने कितनी बार वह साहित्य उपरले स्तर के ग्रंथों से प्रभावित हुआ है और कितनी बार उसने उसे प्रभावित भी किया है।

परंतु यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि लोक-साहित्य के अध्ययन का उद्देश्य पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं है। लोक-साहित्य के अनेक विद्वानों में इस प्रकार के भाव आ जाते हैं परन्तु इस प्रकार के भाव तो पुराने इतिहास और पुरावृत्त के अध्ययन करनेवालों के चित्त में भी आ जाते हैं। लोक-साहित्य के संकलन और सम्पादन का प्रयत्न बड़े उद्देश्य से होना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि नवीन विज्ञान ने हमें ऐसा दृष्टिकोण दिया है जो अब-तक संसार के इतिहास में अपरिचित था। नवीन साधनों ने जीवन के प्रायः प्रत्येक विचार और आचार के मूल्यों में परिवर्तन का भाव ला दिया है। समूचा समाज मथित हो रहा है। पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। वैज्ञानिक साधनों ने गाँवों के स्थिर और शान्त जीवन में भी हलचल उत्पन्न कर दी है। अब सारी समाज-व्यवस्था को नये सिरे से ढालने का विचार प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा है। गाँवों को अब शहरी जीवन से असंपृक्त नहीं रखा जा सकता और नवीन सुविधासंपन्न जनमंडली के संपर्क में आने से उनके भीतर जो असन्तोष उत्पन्न होगा उसे रोका भी नहीं जा सकता। ग्राम-सुधार का कार्य अब शहरी नेताओं की कर्तव्य-बुद्धि का विषय नहीं रह गया है। उनके अस्तित्व के लिये ही आवश्यक हो गया है। सुधार का अर्थ है कि अधिक व्यवसाय और उद्योगों का प्रवर्तन, अधिक स्कूल-कालेजों का खोलना, अधिक वैज्ञानिक सुविधाओं की आयोजना। इन्हीं बातों को जनपदीय जनता के मंगल का द्वार समझा जा रहा है। अभी तक इससे भिन्न श्रेणी के सुझाव देखने को नहीं मिले। जो सुझाव थोड़ी भिन्न श्रेणी के लगते हैं उनके बाह्य रूप में और गति की मात्रा में ही अन्तर है। ऐसा लग रहा है कि इन सुधारों की ओर जनता और राज्य का ध्यान आगे भी केंद्रित होता जाएगा और ऐसी अवस्था में ग्रामीण साहित्य, कला और शिल्प के अविमिश्र शुद्ध रूप के बचे रहने की आशा करना व्यर्थ है। अभी से इस बात के लक्षण प्रकट होने लगे हैं कि लोक-जीवन पर आधुनिकता के प्रभाव पड़ते जा रहे हैं। यह चिन्ता की बात नहीं है। जहाँ जीवन होगा वहाँ प्रभाव भी पड़ेगा। उससे घबराना बेकार है। यह कैसे संभव है कि सारे संसार में मानवीय आचारों और विचारों के मूल्य में परिवर्तन होता रहेगा और हमारे जनपद उससे एकदम अस्पृष्ट रहेंगे। मिश्रण भी होगा, नवीन विनोद-साधनों का प्रचार भी बढ़ेगा और नई समाज-व्यवस्था का आयोजन भी होगा। चिंता की बात यह नहीं है, दूसरी है।

वैज्ञानिक युग के क्रान्तिकारी साधनों ने एकदम नवीन युग को सूचना दी है। गाँवों के स्थितिशील या मंदगतिशील समाज में जो आलोड़न-विलोड़न के लक्षण प्रकट हुए हैं उनका प्रभाव बहुत दूर तक व्याप्त होगा। ग्राम-जीवन अब उस प्रकार परंपरावाहक नहीं बना रहेगा जिस प्रकार अबतक रहा है। शहरों में काम करनेवाली साधारण जनता भी दीर्घकालतक और पुश्तोंतक एक ही स्थान पर नहीं बनी रहेगी। जीवनसंघर्ष की कठोरता प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। जीविका के लिये शहर और गाँव दोनों के रहनेवाले यायावर बनते जायंगे। ऐसी

अवस्था में पुरानी परंपरा के टूटने और बदलने की संभावना को बहुत बल देकर सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। हमने ऊपर देखा है कि लोक-साहित्य परंपराप्राप्त साहित्य है। उससे हमारे पुराने इतिहास की कड़ियाँ जुड़ती हैं, मनुष्य की मानस-ग्रंथियों पर प्रकाश पड़ता है और सामाजिक विकास के स्तरों को समझने में मदद मिलती है। इस बहुमूल्य सम्पत्ति को नष्ट हो जाने देना किसी प्रकार वांछनीय नहीं है। उसे यथासम्भव विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। चिन्ता का कारण लोक-जीवन में दिखनेवाले परिवर्तन नहीं हैं बल्कि नवीन युग के जन्म लेने के समय उत्पन्न होनेवाली हलचलों के कारण वर्तमान लोकसाहित्य के खो जाने की आशंका है। इस युग-ग्रन्थि के समय यदि हम अनासक्त दृष्टि लेकर अपनी इस बहुमूल्य सम्पत्ति को यथार्थ रूप में सुरक्षित नहीं कर सके तो यह अपार राष्ट्रीय क्षति होगी। इसी-लिये हमें सावधानी से अपने इस आलोचित और अनालोचित साहित्य-सम्पत्ति का जल्दी से जल्दी संकलन और संपादन करना चाहिए। इस कार्य में शिथिलता और लापरवाही से भयंकर क्षति होगी। इनके संकलन-संपादन में अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए। ठीक-ठीक संकलन और संपादन हुए बिना हम वास्तविक लाभ नहीं पा सकेंगे। संकलनकर्ताओं की दृष्टि में किसी प्रकार का आग्रह और आसक्ति का होना एकदम वांछनीय नहीं है। न तो यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास है न स्थानीय गौरव के प्रचार की आसक्ति। अनासक्त अनाविल दृष्टि की इसमें सर्वा-धिक आवश्यकता है।

संसार के जिन देशों ने अपने देश के लोक-साहित्य का संकलन-संपादन किया है उन देशों के परिष्कृत और अभिजात साहित्य में कभी-कभी यह प्रयत्न हुआ है कि साहित्य के विविध रूपों को लोक-साहित्यिक रूप दिया जाय। कई बार यह प्रयत्न बहुत सफल भी हुए हैं, पर यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं बल्कि नयी जीवन-शक्ति से अभिजात साहित्य की कृत्रिमता भंग करने का प्रयास सिद्ध हुआ है। यह दूसरी बात है। हम अन्यत्र इसकी चर्चा करेंगे।

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि भारतीय सभ्यता का इतिहास पश्चिम के उन समृद्ध देशों के इतिहास से थोड़ा भिन्न है जहाँ सभ्यता के मूल उत्स नगरों के रहनेवाले तत्त्वचिंतक विद्वान् थे। यद्यपि इस देश में बहुत प्राचीन काल से ही पौर और जानपद जनों का अन्तर स्वीकार कर लिया गया था पर जिन विचारकों, ऋषियों और आचार्यों को यह देश अपना मार्गदर्शक मानता आया है वे नगरों के निवासी नहीं थे। यहाँ के सभी आचार्यों और सन्तों ने अपनी साधना-भूमि नगरों से बाहर बनाई थी। कथा-पुराण और गीत-नृत्यों के द्वारा जनपदों के निवासी निरन्तर उच्चतर ज्ञान को प्राप्त करते रहते थे। नगरों के निवासी भी इन्हीं सांस्कृतिक आदर्शों से प्रेरणा पाते थे। इस प्रकार यहाँ केवल नगर और ग्राम के भेद से नागरिक और लोकसंस्कृति को भिन्न-भिन्न नहीं समझा जा सकता। संस्कृति एक ही थी, उसके उन्नायक आचार्य एक ही थे, नगरों से छन-छन कर वह ग्रामों में नहीं पहुँचती थी बल्कि ग्रामों से नगरों की ओर जाती थी। सन् ईसवी के कुछ पूर्व से समृद्ध नगरियों की संख्या बढ़ने लगी थी और ग्रामों के साथ उनका व्यवधान भी बढ़ने लगा था। साधारणतः नगरों में रहने-

वाले लोग भोक्ता वर्ग के थे या उनकी सेवाओं में नियुक्त होते थे और गाँवों में रहनेवाले लोग उत्पादक वर्ग के थे। नगर राजाओं, राजपुरुषों और श्रेष्ठियों के आवास थे; गाँव कृषिजीवी लोगों और उनके सहायकों की वासभूमि थे। राजाओं और श्रेष्ठियों के यहाँ आश्रय पाने के लिये बड़े-बड़े कलावन्त—कवि, गायक, चित्रकार, शिल्पी—नगरों की ओर जाते थे। इन्हें अपना सारा समय तत्तत् कलाओं को और भी निखारने और मांजने में लगाना पड़ता था। राजदरबार प्रतिद्वंदियों से भरे रहते थे। गाँवों में इतनी प्रतिद्वंदिता भी नहीं होती थी, अच्छा पुरस्कार भी नहीं मिलता था और कला को मांज-घिसकर निखारने का अवसर भी नहीं मिलता था। इसीलिये शहरों में कलाओं और विद्याओं के संस्कार हुए, सूक्ष्म बौद्धिक विवेचनावाले ग्रंथ लिखे गए। गाँव की जनता को न इतना समय था न इतनी जरूरत। दिन भर काम-काज करने के बाद अपने मन-बहलाव के लिये वह भी नृत्य, गीत, उत्सवों का आयोजन करती थी पर ये आयोजन अधिक सहज, अधिक प्रत्यक्ष होते थे और अधिक अमार्जित रह जाते थे। शहर के वृत्तिजीवी कलावन्तों को यह गंवारू मनोरंजन भोंडे लगते थे और गाँव के लोगों को दरबार के बहु विघोषित कला-गुण दुर्बोध। गाँव और शहर का व्यवधान धीरे-धीरे बढ़ता गया। गाँव के जो लोग शहरी दरबारों में जाकर अपनी विद्या मांज-घिस लेते थे, वे भी गाँवों से ऊबने लगते थे। बिहारी कवि ने एक बार पछता कर कहा था कि 'गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव।' शहरी गुणों का गर्व गाँव में रहना संभव ही नहीं था। यह व्यवधान बढ़ता ही गया है। परन्तु फिर भी भारतवर्ष की संस्कृति के उन्नायक शहरों से चलकर गाँव की ओर नहीं आए बल्कि गाँव से चलकर शहरों की ओर गए हैं। मुसलमानी शासन काल में गाँव और शहर का अंतर काफ़ी अधिक बढ़ गया था परन्तु भारतीय संस्कृति को उस समय भी प्रायः निरक्षर सन्तों का नेतृत्व मिल गया। वे जनता के अपने आदमी थे, उन्हीं में जनमे हुए, उन्हीं में पले हुए और उन्हीं में बढ़े हुए। वे सच्चे अर्थों में नगर और गाँव के व्यवधान के मिलनसेतु थे। उन्होंने अपने सहज ज्ञान और उच्च चरित्रबल से समूची जनता को प्रभावित किया था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उनका ज्ञान गाँवों तक ही समिति रह गया हो। वह शहर के गण्यमान्य लोगों को प्रभावित किया करता था।

इन मध्ययुग के सन्तों का लिखा हुआ साहित्य—कई बार तो वह लिखा भी नहीं गया, कबीर ने तो 'मसि कागद' छुआ ही नहीं था!!—लोकसाहित्य कहा जा सकता है या नहीं? आजकल हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में इन सन्तों की रचनाएँ विवेच्य मानी जाती हैं अर्थात् उनकी गणना अभिजात और परिष्कृत साहित्य में होने लगी है। सीमा-रेखा कहाँ है? क्यों कबीर की रचना लोकसाहित्य नहीं है? सच पूछा जाय तो कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर मध्ययुग के संपूर्ण देशीभाषा के साहित्य को लोक-साहित्य के अन्तर्गत घसीट कर लाया जा सकता है। इसीलिये इस देश में लोक-साहित्य की खोज का काम बहुत जटिल है। केवल परिष्कृत और लौकिक कहे जानेवाले साहित्य की अध्ययनप्रणाली को ही भेदक माना जा सकता है। लोक-साहित्य मौखिक परंपरा से प्राप्त और संगृहीत होता है जब कि मध्ययुग का तथाकथित परिष्कृत साहित्य सन्त पाण्डुलिपियों के आधार पर संपादित होता है।

साधारणतः मौखिक परंपरा से प्राप्त और दीर्घकाल तक स्मृति के बल पर चले आते हुए गीत और कथानक ही लोक-साहित्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार किसी पुस्तक के आधार पर न होकर जो नृत्य परम्पराक्रम से चला आ रहा है उसे लोकनृत्य कहा जाता है। तुलसीदास जी की रामायण को आश्रय करके जो रामलीलाएं उत्तर भारत में प्रचलित हैं वे लोकनाट्य हैं या नहीं? इन रामलीलाओं में तुलसीदास का रामचरित मानस अक्षरशः पठित और अभिनीत होता है। इनमें न तो कोई यवनिका होती है न प्रवेशक-विष्कंभक, न नांदीपाठ, न सूत्रधार। संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों की जो नाट्यधर्मी वृत्तियां हैं—अपवार्य-भाषण, आकाश-भाषित, स्वगत-उक्ति—वे इसमें कुछ भी नहीं होतीं। रामलीलाओं में क्रिया की परवा कम की जाती है; तुलसीदास के रामायण को प्रत्यक्ष करके मूर्तिमान् बनाने की अधिक। इन लीलाओं से अधिक पुस्तक-निबद्ध नाटक कम खेले जाते होंगे फिर भी वे लोकनाट्य से भिन्न नहीं हैं। इसीलिये यूरोप के कुछ विचारकों ने लोकसाहित्य (फोक लोर) को लिखित या अलिखित साहित्य न कह कर परम्पराप्रथित साहित्य ही कहना पसंद किया था। इंग्लैण्ड में इस बात पर काफी बहस हुई थी कि शेक्सपियर के नाटकों के जो अभिनय तीन सौ वर्षों से चले आ रहे हैं वे परम्पराप्रथित होने के कारण लोकनाट्य की श्रेणी में आ सकते हैं या नहीं। अधिकांश विचारक उन्हें लोक-नाट्य मानने के पक्ष में नहीं थे। इन बातों से पता चलता है कि लोकसाहित्य को ठीक-ठीक परिभाषा में बांधना बड़ा कठिन है। देश का इतिहास जितना ही विपुल और विशाल होगा उतना ही जटिल होगा उसके लोकसाहित्य का अध्ययन। ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोक-चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं वे ही लोकसाहित्य, लोकशिल्प, लोकनाट्य, लोककथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं। 'लोक-चित्त' से तात्पर्य उस जनता के चित्त से है जो परम्पराप्रथित बौद्धिक विवेचनापरक शास्त्रों और उन पर की गई टीका-टिप्पणियों के साहित्य से अपरिचित होता है।

जहां एक ओर भारतीय लोकसाहित्य का अध्ययन जटिल और गहन है वहीं वह प्रेरणा-दायक और नवीन आलोक की उत्स भूमि भी है। लोकसाहित्य और लौकिक आचारों के अध्ययन से कभी-कभी हमारे भूले हुए और विश्रृंखलित साहित्य पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जहां लोक-प्रचलित आचार-परंपराओं, लोकोक्तियों और पहेलियों ने भूले हुए इतिहास को आलोकित किया है। हमने ऊपर लोक-साहित्य के छः मुख्य विभाग किए हैं। उनकी अलग-अलग चर्चा करते समय लोकसाहित्य के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर भी कुछ लिखने का प्रयास किया जाएगा। जहाँ कहीं भी इस अलिखित मौखिक साहित्य की ओर पंडितों का ध्यान गया है वहीं इन गीतों के अत्यन्त मर्मभेदी और प्रभावशाली काव्यतत्त्व को देखकर आश्चर्य प्रकट किया गया है। इंग्लैण्ड के रोमांटिक काल के कवियों और आलोचकों में से कई लोग इन गीतों की मोहक चारुता और हृदयसंवादभाक् वेदना और उल्लास से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि वास्तविक कवित्व के लिये इन लोकगीतों का आदर्श स्वीकार करने लगे थे। लोकगीतों की अव्यवहित प्रभावशालिता ने साहित्य में प्रिमिटिविज्म (आदिम वृत्तिवाद) नामक नवीन तत्त्वदर्शन को जन्म भी दिया था और उसमें उत्तेजना का संचार भी किया था। [क्रमशः]

जनपदीय प्रगति

१—भोजपुरी भाषा तथा लोकसाहित्य का संक्षिप्त विवरण

भौगोलिक दृष्टि से भोजपुरी भाषा के प्रधान केन्द्र उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले तथा बिहार प्रान्त के पश्चिमी जिले हैं, किन्तु इन जिलों के अतिरिक्त भी यह भाषा बोली जाती है। इस समस्त भूभाग का क्षेत्रफल लगभग ५० पचास हज़ार वर्गमील है। इसके बोलनेवालों की संख्या ढाई करोड़ के लगभग है। नीचे अन्य बोलियों के बोलनेवालों की संख्या दी जाती है:—

	बोली	संख्या
१.	अवधी	१,४१,७०,७५०
२.	ब्रज	७८,३४,२७४
३.	बघेली	१,६०,००,०००
४.	बुन्देलखण्डी	४६,१२,७५६
५.	छत्तीसगढ़ी	३३,०१,७८०
६.	मैथिली	१,००,००,०००
७.	मगही	६२,३५,७८२

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास कुछ बहुत पुराना नहीं है। भोजपुरी के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अनुसंधानकर्त्ता डा० बीम्स थे, जिन्होंने अपने 'नोट्स ऑन दी भोजपुरी डायलेक्टस् आफ हिन्दी स्पोकन इन वेस्टर्न बिहार' शीर्षक एक लेख में इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया था। यह लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के विद्वान् सदस्यों के समक्ष १० फरवरी सन् १८६७ में पढ़ा गया था और दूसरे वर्ष १८६८ में उसकी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। श्री जे. आर. रीड ने भी अपने 'नोट्स ऑन दी डायलेक्टस् करेण्ट इन आजमगढ़' शीर्षक लेख में भोजपुरी व्याकरण पर पर्याप्त प्रकाश डाला था। श्री रीड का यह लेख आजमगढ़ जिले की सन् १८७७ की सेटलमेण्ट रिपोर्ट के परिशिष्ट २ में प्रकाशित हुआ था। सन् १८८० ई० में डा० ए० एफ० रुडाल्फ़ हार्नली ने 'कम्परैटिव ग्रामर आफ दी गोडियन लैंगवेजेज विद स्पेशल रेफरेंस टू द इस्टर्न हिन्दी' नामक अपना सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें भोजपुरी व्याकरण की बहुमूल्य सामग्री आई। डा० हार्नली ने बनारस की पश्चिमी भोजपुरी को ही पूर्वी हिन्दी का नाम दिया है। भोजपुरी भाषा एवं भोजपुरी लोकसाहित्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध करने का श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन को है। आपने केवल भोजपुरी के अध्ययन के लिये सामग्री ही एकत्र नहीं की, अपितु स्वयं इस विषय में प्रशंसनीय शोध कार्य भी किया। ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' भाग ५ खण्ड २ में भोजपुरी की विभिन्न बोलियों के उदाहरण तथा उनकी व्याकरण-सम्बन्धी विशेष-

ताएँ भी दी गई हैं। आपकी दूसरी पुस्तक 'सेवेन ग्रामरस् आफ द डायलेक्टस् एण्ड सब डायलेक्टस् आफ द बिहारी लेंग्वेज' है, जिसमें भोजपुरी भाषा का व्याकरण विस्तृत रूप में दिया गया है। डा० ग्रियर्सन ने 'बिहार पेजैण्ट लाइफ' नामक पुस्तक में अनेक भोजपुरी शब्दों का संग्रह किया है। इनके अतिरिक्त ग्रियर्सन के भोजपुरी लेखों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है:—

१.—**द सांग आफ आल्हा मैरेज** (इण्डियन एण्टी क्वेरी, अगस्त १८८५, पृ० २०९—२२७)

२—**फोक साँग इन माडर्न भोजपुरी** (मूल गीतों तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित) रा० ए० सो० ज०, खण्ड १६, भाग २, १८८४

३—**सम भोजपुरी फोक सांग्स**—(मूल गीतों तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित) इसमें शाहाबाद जिले के ४२ बिरहों का संग्रह किया गया है। रा० ए० सो० ज०, १८८६, पृ० २०७—२३५।

४—**फोकलोर फ्राम इस्टर्न गोरखपुर**—ले० ह्यूग फ्रेजर, सम्पादक जार्ज ग्रियर्सन-रा० ए० सो० ज०, खण्ड ५२, सं० १, १८८३ पृ० १—३२

५—**एस्से ऑन, बिहारी डिक्लेन्शन एण्ड कंजुगेशन**—ए० सो० खं० ५२, १८८३, पृ० ११६—१५८ इसी अंक के पृ० १५६—१६३ में, इस संबंध में, रुडाल्फ हार्नली की टिप्पणी है।

६—**बैसवाड़ी फोक सांग**—संकलन कर्त्ता—बाबू योगेन्द्रनाथ राय, गाजीपुर, सम्पादक—जार्ज ग्रियर्सन, ए० सो० बं० ज०, सं० २, १८८४। इनमें नं० ७ की **कजली** तथा नं० ८ की **जँतसारि** भोजपुरी में है।

७—**बिजैमल गीत**—ए० सो० बं० ज०, खण्ड ५३, विशेष अंक १८८४, पृ० ९३—१५०।

८—**टु वर्शन आव द सांग आव गोपीचन्द**—रा० ए०, सो० ज० खण्ड, ५४, अंक १ सन् १८८५। इसमें गोपीचन्द के गीत के भोजपुरी तथा मगही रूप आमने-सामने दिए गए हैं।

९—**नोटस आन द वर्नाक्यूलर डायलेक्टस् स्पोकेन इन द डिस्ट्रिक आव-सारन**—ले० गिरीन्द्रनाथ दत्त, सुपेरिन्टेण्डेण्ट, हथुआ राज। यह लेख ग्रियर्सन के उद्योग से ए० सो० बं० के जर्नल के खं० ६६, अंक २, सन् १८९७, पृ० १९४—२१२ में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में सारन जिले के **मगहिआ डोम**, गोरखपुर के **सियरमरवा** तथा हथुआ के **नेटुवा** बोलियों के नमूने दिए गए हैं।

१०—**सेलेक्टेड स्पेसिमेन आव बिहारी लेंग्वेज**—द भोजपुरी डायलेक्ट—द गीत नायका बनिजरवा—जेड० डी० एम० जी०, १८८९ पृ० ४६८—५०६

यूरोपीय विद्वानों, विशेषतया ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत की गई भोजपुरी की सामग्री तथा शोध का कार्य चलता रहा, किन्तु ग्रियर्सन के भारत से चले जाने तथा 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के प्रकाशन के बाद भोजपुरी के वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी गवेषणात्मक निबन्धों का प्रकाशन एक प्रकार से

बन्द हो गया। इसी समय पेरिस विश्वविद्यालय के श्री मराठे ने एक ग्रंथ फ्रेंच में लिखकर आधुनिक आर्य भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की नवीन प्रणाली का सूत्रपात किया। इधर अपने देश में श्री आशुतोष मुकर्जी की प्रेरणा से कलकत्ता विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अध्ययन का प्रारम्भ हुआ तथा डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लन्दन विश्वविद्यालय से अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'बँगला भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। लंदन से लौटकर डा० चटर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के तुलनात्मक भाषा-शास्त्र-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। आपके विशाल व्यक्तित्व और गंभीर अध्ययन का प्रान्त के नवयुवकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे कलकत्ता विश्वविद्यालय आधुनिक आर्य-भाषाओं के क्षेत्र में कार्य करनेवालों का एक मुख्य केन्द्र हो गया। जहांतक भोजपुरी का सम्बन्ध है, इन पंक्तियों के लेखक ने अपना गवेषणात्मक निबन्ध 'भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' डा० चटर्जी के तत्त्वावधान में ही १९४५ में कलकत्ते में तैयार किया था। सन् १९४६ में इसी निबन्ध पर लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिली थी। उस निबन्ध को तैयार करने में पूरे पन्द्रह वर्ष लगे थे। गतवर्ष लेखक ने इस निबन्ध की सामग्री का उपयोग बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के अपने 'भोजपुरी भाषा तथा साहित्य' के भाषण में किया था। यह ग्रंथ बिहार के राष्ट्र-भाषा परिषद् की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इसके अतिरिक्त भोजपुरी के संबन्ध में लेखक के निम्नलिखित निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं:—

१—**ए डायलेक्ट आव भोजपुरी**—यह लेख अंग्रेजी में सन् १९३२ में लिखा गया था तथा १९३४-३५ के बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित हुआ था।

२—**भोजपुरी लोकोक्तियां**—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग की पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के १९३९ के अप्रैल तथा जुलाई के दो अंकों में यह लेख प्रकाशित हुआ था।

३—**भोजपुरी मुहावरे**—'हिन्दुस्तानी' के तीन अंकों—अप्रैल तथा अक्तूबर १९४० तथा जनवरी १९४१ में यह लेख प्रकाशित हुआ था।

४—**भोजपुरी पहेलियां**—अक्तूबर-दिसम्बर १९४२ की 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित।

इधर १९४७-४९ में पटना कालेज के डा० विश्वनाथ प्रसाद ने लन्दन विश्वविद्यालय से **"भोजपुरी ध्वनितत्त्व"** के सम्बन्ध में थीसिस लिखकर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। **श्री विश्वनाथ बाबू ने अपने इस गवेषणात्मक निबन्ध में आदर्श भोजपुरी की ध्वनियों का पूर्ण रूप से विश्लेषणात्मक अध्ययन उपस्थित किया है।** आशा है इसका भी हिन्दी अनुवाद शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

ऊपर भोजपुरी भाषा के वैज्ञानिक अध्यनन का एक संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया है, अब यहाँ नीचे भोजपुरी लोकसाहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में विवरण दिया जाता है।

१—ए० जी० शिरेफ ने अपने "हिन्दी फोक सांगस्" नामक पुस्तक में भोजपुरी भाषा के १९ गीतों का संग्रह किया है। ये गीत विभिन्न प्रकार के हैं, जिनमें सोहर, जँतसार के गीतों की अधिकता है। इन गीतों का अंग्रेजी में भी पद्यात्मक अनुवाद उपस्थित किया गया है। इस पुस्तक में जो गीत संगृहीत हैं, वे प्रायः पं० रामनरेश त्रिपाठी की

'कविता कौमुदी' (भाग ५) ग्रामगीत से लिए गए हैं। श्री शिरेफ के लोकगीतों के अध्ययन की ओर आकृष्ट करने का श्रेय पं० रामनरेश त्रिपाठी को ही है।

२—पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक "कविता कौमुकी" भाग ५ में सोहर, जनेऊ, विवाह, जांत, सावन, निरवाही, हिंडोली, कोल्हू, मेला, बारहमासा आदि दस प्रकार के गीतों का संग्रह किया है। पुस्तक के प्रारंभ में त्रिपाठी जी ने १३८ पृष्ठों में 'ग्रामगीतों का परिचय' नाम से एक महत्त्वपूर्ण बृहद् भूमिका भी लिखी है। विद्वान् संग्रहकर्ता ने उत्तर प्रदेश और बिहार में हिन्दी की विभिन्न बोलियों—खड़ी बोली, अवधी, ब्रज, भोजपुरी और बैसवाड़ी में गाए जानेवाले गीतों—का संग्रह किया है, इसमें भोजपुरी के अनेक गीत आ गए हैं। त्रिपाठी जी के इस संग्रह का प्रमावात्मक मूल्य बहुत है। आपकी अन्य दो पुस्तकों —'सोहर' तथा 'हमारा ग्राम-साहित्य' में भी भोजपुरी लोक-गीत आए हैं।

३—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—आप भोजपुरी ग्रामगीत भाग १ तथा भाग २ के प्रणेता हैं। प्रथम भाग में आपने २७१ गीतों का संकलन किया है। ये गीत संस्कार और और ऋतुक्रम से १५ भागों में विभक्त है। सोहर, खिलौना, जनेऊ, वैवाहिक परिहास, गाना, जाँत, छठी माता, शीतला माता, झूमर, बारहमासा, कजली, चैता, बिरहा और भजन।

पुस्तक के द्वितीय भाग में विद्वान् संग्रहकर्ता ने ४३० गीतों का संग्रह किया है। संगृहीत गीतों का विभाजन प्रधानतया तीन भागों में किया गया है—(१) संस्कार सम्बन्धी, (२) ऋतु सम्बन्धी, (३) पर्व सम्बन्धी। सोहर, जोग, सहेला, विवाह, बहुरा, पिढ़िया, गोधन, नागपंचमी, जँतसार, झूमर, कजली, बारहमासा, होली, डफ, चैता, सोहनी, रोपनी, बिरहा, कँहरवा, गोवाऊ, पचरा, निर्गुन, देशभक्ति, पूर्वी, पराती और भजन।

डा० उपाध्याय के इन दोनों संग्रहों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से हुआ है। प्रत्येक गीत को सावधानी से ही लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है, अपितु कठिन शब्दों का अर्थ पाद टिप्पणियों में किया गया है। इसके अतिरिक्त गीत की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ भी किया गया है। अभी इसी वर्ष श्री उपाध्याय को 'भोजपुरी' लोक-साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में गवेषणात्मक निबन्ध लिखने के लिये लखनऊ विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि मिली है। आशा है आपका यह निबन्ध शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

४—कुमार दुर्गाशंकर सिंह ने 'भोजपुरी लोकगीत में करुण रस' नामक पुस्तक का सम्पादन किया है। यह पुस्तक ५ सौ पृष्ठ की है और इसमें आदर्श भोजपुरी के अनेक गीतों का संग्रह हुआ है।

५—डब्ल्यू० जी० आर्चर तथा संकटाप्रसाद—आप लोगों के सम्पादकत्व में 'भोजपुरी ग्रामगीत' नामक पुस्तक 'बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' से प्रकाशित हुई है।

इसमें गीतों की संख्या ३७७ है। ये गीत बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के कायस्थ परिवार से संगृहीत किए गए हैं, इनका संग्रहकाल १९३९-४१ है।

६—**श्री देवेन्द्र सत्यार्थी** द्वारा संगृहीत **'धरती गाती है'** तथा **'बेला फूले आधी रात'** में अनेक भोजपुरी लोकगीतों का संग्रह हुआ है।

७—**धरती के गीत**—हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रचे गए गीतों का संग्रह है। प्रस्तुत पुस्तक बम्बई की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रकाशन है। इसमें खड़ी बोली और अवधी तथा ब्रजभाषा के गीतों के साथ-साथ भोजपुरी के भी कतिपय गीतों का संग्रह किया गया है।

८—**सदानी भाषा का व्याकरण तथा उसका साहित्य**—यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है, इसके लेखक हैं रोमन कैथोलिक पादरी **श्री शांति पीटर 'नवरंगी'**। आपने भोजपुरी की सदानी बोली का व्याकरण लिखा है तथा अन्त में अनेक कहानियों और गीतों का संकलन किया है।

९—**चम्पारण के गणेश चौबे** ने भी अनेक भोजपुरी गीतों और कहानियों का संग्रह किया है तथा इस सम्बन्ध में अंग्रेजी और हिन्दी में कई लेख भी लिखे हैं। भोजपुरी भाषा तथा साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन करनेवालों में भी श्री चौबे जी का एक विशेष स्थान है। दुःख है आप द्वारा संगृहीत सामग्री अभी प्रकाश में नहीं आई है।

ऊपर भोजपुरी भाषा तथा लोक-साहित्य का संक्षेप में विवरण दिया गया है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि अब तक भोजपुरी में जो वैज्ञानिक कार्य हुआ है, उसके लिये सरकार अथवा किसी संस्था की ओर से कुछ भी सहायता नहीं मिली है। यह प्रयत्न केवल उच्च वैज्ञानिक भावना से प्रेरित होकर व्यक्तिगत रूप में ही किए गए हैं। हाँ, इसमें भी सन्देह नहीं कि श्री राहुल सांकृत्यायन तथा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने उधर लोकभाषा तथा लोक-साहित्य के संग्रह के लिये जो आन्दोलन किया था, उसका प्रभाव जनपदीय कार्यकर्ताओं पर अच्छा पड़ा था। राहुल जी के विशाल व्यक्तित्व तथा प्रत्येक वर्ष में होनेवाले भोजपुरी सम्मेलनों ने इस कार्य में सहायता प्रदान की। किन्तु अभी जो कुछ कार्य हुआ है, उसका सम्बन्ध आदर्श भोजपुरी से ही है। और अभी आदर्श भोजपुरी की भी समस्त लोकगाथाओं (बैलेड्स्) तथा लोककथाओं (कहानियों) का न तो संकलन ही हुआ है और न अध्ययन ही। इसी प्रकार भोजपुरी की अन्य विभाषाओं—पश्चिमी, उत्तरी, मधेशी तथा नगपुरिया या सदानी भोजपुरी की भाषागत विशेषताओं एवं लोकगीतों के संग्रह का कार्य अभी तक आरंभ नहीं हुआ है। इसके लिये संगठित प्रयत्न तथा एक केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता है। वैज्ञानिक कार्य वस्तुतः लोहे के चने हैं, इसमें जुटना साधारण साहस का काम नहीं है। अब वह युग आ गया है जब हम लोकभाषाओं तथा लोकसाहित्य का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति पर करें। इसके लिये प्रत्येक बड़े भाषा-क्षेत्र को छोटी-छोटी विभाषाओं के क्षेत्र में विभाजित करके वहाँ की भाषा तथा लोकसाहित्य सम्बन्धी सामग्री को स्थानीय विद्वानों तथा उत्साही कार्यकर्ताओं की सहायता से एकत्र करना होगा। साहित्यिक खड़ी बोली के प्रचार एवं शिक्षा के प्रसार के कारण अनेक लोक-संस्थाएँ तथा लोक-कथाएँ विलुप्त हो चुकी हैं। अब हमारे घर की शिक्षित कन्याएँ तथा बहुएँ धीरे-धीरे प्राचीन कहानियों को भूलती जा रही हैं। क्योंकि उन्हें अब आधुनिक कला-

त्मक कहानियों में रस आने लगा है। ऐसी अवस्था में यह परमावश्यक है कि सरकार की ओर से शीघ्र प्रयत्न किया जाय। डा० ग्रियर्सन, डा० बीम्स, डा० हार्नले, ग्रूग फ्रेजर, ट्रम्फ, शिरेफ आदि योरोपीय विद्वानों ने जो कार्य किया है, उसमें अनेक भूलों का होना स्वाभाविक था, क्योंकि वास्तव में जिन प्रादेशिक भाषाओं का कार्य उन्होंने किया, वे उनकी मातृ-भाषाएँ न थीं। हो सकता है कि राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर के भी इन विदेशी विद्वानों ने भाषा सम्बन्धी कार्य किया हो। किन्तु यह सब होते हुए भी वे हमारे पथप्रदर्शक ही नहीं अपितु धन्यवाद के पात्र हैं। आज हम स्वतंत्र हैं, क्या हम इस प्रकार का संगठन नहीं खड़ा कर सकते, जिसके द्वारा हम लोक-भाषाओं तथा लोक-साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें।

उदयनारायण तिवारी

२—मालव जनपदीय कार्य

भारत के अत्यन्त पुरातन और सांस्कृतिक संगम स्थल, मालव जनपद के साहित्य की ओर जनता की दृष्टि आकर्षित करने का कार्य, धरा नगरी के वयोवृद्ध विद्वान् स्व० श्री लेलेजी ने किया। कुछ समय तक **श्री मालेरावजी** भी इस ओर यत्नशील रहे, किन्तु मालव प्रेम से अभिभूत होकर जो कार्य और जो जागृति **श्री सूर्यनारायण व्यास** ने की है वह अमूल्य है। आपने मालव जनपद की सर्वांगीण जागृति का एक व्रत ही ले रखा है। मध्य-भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से जो भाषण आपने दिया, वह बहुत महत्त्व रखता है। अध्यक्षता के प्रथम वर्ष में सारे प्रदेश में जागृति के सन्देशवाहकों को भेजा और सभा-समितियों की स्थापना की तथा लोकगीत और लोकोक्तियों का संग्रह कार्य आरम्भ किया। तत्कालीन शासकों, नरेशों ने भी उन्हें इस कार्य में सहयोग और सुविधाएँ दीं। इस तरह व्यापक कार्य हुआ। आज ६ साल से वे अपने पत्र "**विक्रम**" द्वारा निरन्तर यह कार्य करते ही जा रहे हैं। सम्मेलन से सम्बन्ध विच्छेद करने के बाद व्यासजी का यह कार्य व्यक्तिगत हो गया है तथा प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहन पाती रहती हैं। 'विक्रम' ने बहुत साहित्य प्रकट किया है। उसके बाद **श्री श्याम परमार** ने लोकगीतों का संग्रह, प्रसार और प्रकाशन भी किया है। कुछ छात्रों ने एम० ए० में मालव लोकगीतों पर निबन्ध लिखकर डिग्री भी प्राप्त की है। व्यासजी के प्रयत्न का यह फल हुआ है कि लगभग १२ फिल्में मालव जनपद के सम्बन्ध में तैयार हुईं, जैसे विक्रमादित्य, कालिदास, मालती-माधव, पृथ्वीवल्लभ, मेघ-दूत, कादम्बरी, शकुन्तला, भर्तृहरि इत्यादि।

इसी तरह विक्रम और कालिदास पर १० हजार पृष्ठों का साहित्य-निर्माण हुआ और प्रकाश में आया। २ हजार पेज की तीन पुस्तकें ग्वालियर विक्रम समिति ने प्रकाशित की हैं। देश में विक्रम कालिदास के नाम से अनेक स्थाई संस्थाओं ने जन्म लिया है। उज्जैन में विक्रम कीर्ति-मन्दिर की नींव राष्ट्रपति के हाथों से डाली गई है, जो पाँच लाख की रकम से जनपद की स्थायी स्मृति का काम देगी। विक्रम विश्वविद्यालय की योजना भी तय हो गई थी, जिसके लिये तत्कालीन ग्वालियर राज्य ने १ करोड़ की रकम स्वीकार की थी, किन्तु मध्यभारत बनने पर वह उलझन में पड़ गई है। अब वह प्रधान मन्त्री नेहरू जी के समक्ष विचाराधीन है।

बहुत पहले अन्तर प्रान्तीय साहित्य के आदान-प्रदान और परिचय की योजना व्यासजी ने बनाई थी और १९३५ में मा० मुंशीजी से चर्चा की थी। 'विक्रम' में यह पत्रव्यवहार प्रकाशित है। इसी तरह अन्तर्जनपदीय साहित्य और कला के सम्बन्ध में एक महत्व की योजना 'विक्रम' में सूचित की गई थी।

परन्तु इस दिशा में शासन की उदासीनता, अर्थाभाव आदि के कारण प्रगति नहीं हुई।

उज्जैन के प्रतिमा निकेतन ने साहस के साथ कुछ समवयस्क मित्रों को लेकर जनपदीय यात्रा और सर्वे का कार्य किया है। उसकी रिपोर्ट शासन को दी गई है।

व्यासजी का विचार है कि एक जनपदीय विद्यालय की स्थापना हो। उसमें लोकगीत, लोकोक्तियाँ और इतिहास, भूगोल तथा संस्कृति का अध्ययन हो, कला का अध्ययन-अन्वेषण हो। शासन का तहसील विभाग प्रत्येक प्रकार से साहित्य संग्रह करने में सहायक बने, इससे जनजीवन, जाति, वंश, संस्कृति, भाषा-विज्ञान में बहुत महत्व का कार्य सम्पन्न होगा।

रा० गो० त्रिवेदी

३—बुंदेलखण्डी लोक-साहित्य

सन् १९४० में श्री **बनारसीदास चतुर्वेदी** ने टीकमगढ़ की वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा **"मधुकर"** नामक पाक्षिक पत्र निकाला। इस पत्र ने बुंदेलखण्ड की जनता में शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, प्रकृति-निरीक्षण और विशेषतः लोक-साहित्य की ओर सुरुचि उत्पन्न की। 'मधुकर' के प्रयत्न से बुंदेलखण्ड के कोने-कोने में लोक-कहानियों, लोक-गीतों, कहावतों, मुहावरों, वैज्ञानिक अनुभवों आदि जनपदीय साहित्य की जोरों से चर्चा हुई, इनके संग्रह का प्रयत्न होने लगा। प्रान्त के अनेक विद्वान् तथा कार्यकर्ता लोक-साहित्य के अन्वेषण तथा प्रकाशन में दत्तचित्त होकर जुट गए। "मधुकर" ने अपने पंचवर्षीय जीवन में बुंदेलखण्डी लोक-साहित्य के विविध अंगों का प्रचुर साहित्य इकट्ठा कर दिया। बुंदेलखण्डी साहित्य के संरक्षण तथा उन्नयन के लिये इस प्रान्त में जो अभी तक कार्य हुए हैं, और जिनकी मुझे जानकारी प्राप्त है उन सबका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है:—

(१) बुंदेलखण्ड के एक अच्छे वैज्ञानिक आधार से लिखित प्रामाणिक इतिहास की आवश्यकता है। इस दिशा में सर्वप्रथम श्री दीवान प्रतिपाल सिंह जू ने पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। श्री गोरेलाल जी ने 'बुंदेलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास' लिखकर उसकी प्रारंभिक तथा आंशिक पूर्ति की है। ऐतिहासिक भवन तैयार करने के लिये इस तरह मानों भूमिका का कार्य हो चुका है। 'मधुकर' की प्रेरणा से अनेक विद्वानों ने इस ऐतिहासिक भवन की विविध सामग्री एकत्र की है। मुझे मालूम हुआ कि श्री श्यामाचरण जी डिस्ट्रिक्ट एंड सेशन्स जज अकोला ने इस सम्बन्ध का बहुत कुछ मसाला इकट्ठा कर रखा है। इस तरह इस दिशा में प्रगति हुई है।

(२) सन् १९४२ में श्री ओरछेश वीरेन्द्रसिंह जू देव की सुरुचि तथा अर्थसाहाय्य और श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी के प्रयत्न से एक वृहत् "बुंदेलखण्डी विश्वकोष" निर्माण की योजना प्रस्तुत की गई। यह विश्वकोष बिहारी विश्वकोष के आदर्श पर जो कि श्री शिव-

पूजन सहाय तथा श्री रामलोचनशरण के असीम अध्यवसाय से निर्माण हुआ था—बनाए जाने का निश्चय हुआ। कार्य बड़ी तत्परता के साथ किया जाने लगा। कई वर्ष तक बहुत सी सामग्री इकट्ठी भी हो गई। परन्तु दुर्भाग्यवश अनेक कारणों से वह कार्य रुक गया।

(३) इसी समय टीकमगढ़ में अनेक विद्वानों के सहयोग से लोकवार्त्ता-परिषद् की स्थापना हुई और उसके द्वारा 'लोकवार्त्ता' नामक एक त्रैमासिक पत्र प्रकाशित किया गया। उस पत्र के सुयोग्य सम्पादक श्री कृष्णानंद जी गुप्त ने इस पत्र के द्वारा जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाज, उत्सवों, धार्मिक विश्वासों, संस्कारों तथा लोक-साहित्य और लोक-कलाओं के विषय में खोजपूर्ण लेख प्रकाशित एवं तत्सम्बन्धी लोकरुचि को जाग्रत् किया। इसके सिवा लोकवार्त्ता परिषद् ने बुंदेलखंड के लोक महाकवि ईसुरी की फागों का एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया। इसके सिवा ईसुरी के लोकगीतों के अन्य संग्रह, बुंदेलखंडी कहावतें, तथा मेरी लिखी हुई बुंदेलखंडी लोक-कथाओं के प्रकाशन की व्यवस्था भी की गई, परन्तु यह कार्य पूर्ण न हो सका और "लोक वार्ता" तथा "मधुकर" का प्रकाशन बंद हो गया। काम जहां-का-तहां रह गया।

(४) बुंदेलखण्डी लोक-कथाओं के संग्रह का कार्य इन पंक्तियों का लेखक 'मधुकर' के जन्म से १०-१२ वर्ष पहले से कर रहा था। 'मधुकर' में मेरी लोककथाओं के लगातार प्रकाशित होने तथा लोगों की रुचि उन कहानियों की ओर आकर्षित होते देखकर मैंने इस संग्रह-कार्य को अधिक जोर के साथ प्रारंभ कर दिया। मेरे संग्रह में ठेठ देहात से ली हुई लगभग १५० कहानियों का संग्रह हो गया। इन कहानियों में से 'मधुकर', 'विन्ध्यभूमि' तथा 'लोकवार्ता' में मेरी ६० से अधिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनका लोगों ने उत्सुकता के साथ स्वागत किया। मेरी इन कहानियों में से कुछ का गुजराती अनुवाद छोटी छोटी दो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुआ।

(५) मेरी इन लोक-कहानियों का प्रथम संग्रह 'बुंदेलखण्ड की ग्राम्य कहानियाँ' नाम से हिन्दी ज्ञानमन्दिर लिमि० बम्बई द्वारा श्री कृष्णानन्द गुप्त लिखित खोजपूर्ण विस्तृत भूमिका के साथ सन् १९४७ में प्रकाशित हुआ। इसमें २५ कहानियाँ प्रकाशित की गईं। इस संग्रह के कन्नड़ भाषा में अनुवाद करने के लिये मुझसे श्री रंगनाथ जोशी, बंगलोर ने आज्ञा ली है और वे इस संग्रह की कहानियों का कन्नड़ में अनुवाद कर चुके हैं।

(६) इन्हीं कहानियों का दूसरा संग्रह 'पाषाण-नगरी' नाम से सन् १९५० में राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने खूब अच्छी तथा गवेषणात्मक भूमिका लिखी। श्री मिलर ने इन कहानियों को सचित्र बनाया और श्री रामचन्द्र तिवारी ने प्रत्येक कहानी की काव्यात्मक टिप्पणी लिखी। इस प्रकार पूर्ण सज-धज के साथ यह संग्रह प्रकाशित हुआ।

(७) मेरी इन कहानियों के दो संग्रह 'केतकी के फूल' और 'गौने की बिदा' की पाण्डुलिपि तैयार है। प्रकाशक न मिलने के कारण अभी तक अप्रकाशित हैं। श्री हरगोविन्द गुप्त चिरगाँव तथा श्री चन्द्रभानु 'विशारद' रैपुरा निवासी ने बुंदेलखण्डी कहावतों तथा मुहावरों का अच्छा संग्रह किया है, परन्तु प्रकाशक न मिलने से अभी तक वे प्रकाशित नहीं हो सके हैं। श्री गौरीशंकर द्विवेदी झाँसी के पास बुंदेली गीतों का अच्छा संग्रह है।

शिवसहाय चतुर्वेदी

४—बघेली लोकसाहित्य का लेखा-जोखा

आज तक मैंने लगभग १५०० बघेलखण्डी लोक-गीतों का संग्रह किया है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—संस्कारों तथा चलतू रीतियों, प्रथाओं के अवसर पर गाए जानेवाले गीत।

२—संस्कारों तथा चलतू रीतियों, प्रथाओं के अवसर पर गाए जानेवाले विभिन्न जातियों के गीत।

३—विशेष त्योहारों पर गाए जानेवाले गीत।

४—विशेष अवसरों एवं आयोजनों पर गाए जानेवाले गीत।

५—काम करते हुए गाए जानेवाले गीत।

संस्कारों के संकलित गीतों के अन्तर्गत प्रसव-पीड़ा, जन्म, मुंडन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत संस्कार और विवाह आदि के गीत आते हैं। चलतू रीतियों और प्रथाओं के अन्तर्गत बच्चा सुलाने के लोरी गीत, कुँआ पूजन के गीत, विवाह के समय पर वर बतलाने के गीत, पारिवारिक विचार-विमर्ष के गीत, फलदान के अवसर के गीत, मंडपाच्छादन के गीत, निमंत्रण के गीत, स्वागत के गीत, तेल चढ़ाव के गीत, बारात प्रस्थान के गीत, पूड़ी बेलने के समय के गीत, द्वाराचार के गीत, द्वार पूजन के गीत, चढ़ाव के गीत, सुहाग के गीत, भाँवर के गीत, कोहबर के गीत, कलेवा की गारियां, ज्योनार की गारियाँ, विदा के गीत, प्रदक्षिणा (परछन) के गीत आदि आते हैं।

इसके अलावा बघेलखण्ड में गोंड, कहार, बारी, चमार, कोल, कोटवार और गडरिया आदि ऐसी जातियाँ भी हैं जो जन्म-ब्याह आदि अवसरों पर अपने जातीय गीत गाती हैं। विशेष आयोजनों या अन्य अवसरों पर भी ये जातियाँ अपने जातीय गीत ही विशेष रूप से गाती हैं। यह गीत कहीं पर केवल पुरुषों द्वारा और कहीं स्त्री-पुरुष सम्मिलित रूप से गाते हैं। इन आयोजनों पर कहीं पुरुष स्त्री-वेश में और कहीं पुरुष-वेश में ही नाचते हैं। स्त्रियाँ भी नाचती हैं। इन गीतों के संकलन के साथ-साथ इन नृत्यों के कुछ चित्र भी मिल गए हैं।

होली के अवसर पर प्रायः पुरुष ही गीत गाते हैं। होली के गीतों में प्रायः फगुआ, दहका, खड़ा, तिनताला, चौताला, नारदी, बुंदेलखण्डी राई और बैसवारा आदि गीत मुख्य हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के गीतों का प्रमुख त्योहार "तीजा" माना जाता है। इस अवसर पर गाए जानेवाले गीतों में दादरा, सावन के झूले के गीत और कजली मुख्य है। दीपावली के अवसर पर गाए जानेवाले गीतों में गडरियों का बिरहा है। रामनवमी के अवसर पर कोल तथा कोटवार या अन्य जातियाँ जिनके यहाँ जवा बोने का चलन है भगत-गीत गाते हैं।

विशेष अवसरों पर गाए जानेवाले गीतों के अंतर्गत ऐसे गीतों का संकलन है जो कि स्त्रियाँ समधी या दामाद आदि मेहमानों के घर आने पर भोजन करते समय गाती हैं। इन गारी-गीतों में हास-परिहास का विशेष पुट रहता है। विशेष आयोजनों पर गाए जानेवाले गीतों के अन्तर्गत ऐसे गीतों का संकलन है, जो तीर्थयात्रा के समय या तीर्थयात्रा से लौट कर

आने पर हवन आदि करते समय गाए जाते हैं, इन्हें भोला-बाबा के गीत कहते हैं। इन्हें स्त्री-पुरुष दोनों गाते हैं। पुरुषों द्वारा शरद् ऋतु की झांकी में शैला खेल के समय शैला गीत गाए जाते हैं। काम करते समय गाए जानेवाले गीतों के अन्तर्गत विशेष रूप से मजदूर वर्ग में टिप्पा-गीत गाने का चलन है। इसे स्त्री-पुरुष साथ-साथ गाते हैं तब अधिक रोचक प्रतीत होता है। इन गीतों में प्रश्न, उत्तर-प्रत्युत्तर चलते हैं और दोनों ओर से एक दूसरे को हरा देने की होड़ लगती है। गीत सरस और रोचक होते हैं।

गीतों के संकलन का दृष्टिकोण—यों तो जो गीत मिले उनके संकलन में आगा-पीछा नहीं किया, किन्तु "बघेलखण्डी लोक-गीत" नामक अपनी पुस्तक में संकलित गीतों का वर्गीकरण उपरोक्त तरीके पर ही किया है। उक्त पुस्तक में संकलित गीतों के द्वारा विशेष रूप से यहां के जन-जीवन के व्यावहारिक रूप को ही प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। आशय यह कि ऐसे गीत कम खोजे-तलाशे हैं जिनमें दार्शनिकता, साहित्यिकता या प्रकृति की छवि-छटा की झलक हो, अपितु प्रयास इस बात का किया है कि यदि गीत बच्चा होने के समय का है तो कम से कम प्रसव-पीड़ा के आकस्मिक तथा उग्र रूप का और प्रसव-पीड़ा के समय की दौड़-धूप का चित्र खड़ा कर सके और यहां के जन-जीवन में फैले अविद्या के अंधकार में चलतू पारिवारिक गृह-कलह का दुष्परिणाम भी बतला सके। साथ ही यदि गीत जन्म के अवसर का है तो यह बता सके कि यहाँ पर खुशियाँ कैसे मनाई जाती हैं, कौन कौन से बाजे बजते हैं, परिवार के कौन कौन से पात्र कौन कौन सी रीतियों को पूरी करने के अधिकारी हैं और उन्हें कुछ मिलता भी है। इसी प्रकार चलतू रीतियों, प्रथाओं की पूर्ति के समय के गीत यह बतला सकें कि कौन सी रीति किसके द्वारा पूरी की जाती है और कौन से सम्बन्धी इन्हें पूरा करने के अधिकारी हैं। यदि विवाह के अवसर का गीत है तो श्रोता के हृदय में मंगलमयी भावनाओं को संचार तो करे ही साथ ही हास-परिहास का पुट देकर मनोरंजन भी कर सके।

बघेलखण्ड की सीमा बुंदेलखण्ड, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश से लगी है। अस्तु, सीमावर्ती गाँवों, कस्बों और नगरों के लोकगीतों में शब्दों का आदान-प्रदान स्वाभाविक रूप से हुआ है। स्थान-स्थान पर भाषा अलंकारिक छटा लिए है। अन्यरसों के साथ-साथ हास्य रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।

लखनप्रताप सिंह

जनपदीय सार सूचनाएँ

१—हिंदी जनपदीय परिषद्

उद्देश्य

हिन्दी जनपदीय परिषद् का उद्देश्य हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र की भूमि, वहाँ के जन और संस्कृति का बहुमुखी अध्ययन 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की भावना से प्रस्तुत करना है।

अध्ययन के लिये उपलब्ध समस्त सामग्री का संकलन, संरक्षण, प्रकाशन और प्रचार लोकहित की दृष्टि से किया जायगा।

—कार्यक्रम—

ऊपर लिखे उद्देश्य की पूर्ति के लिये परिषद् निम्न प्रकार की सामग्रियों को अपने अध्ययन में लेगी:—

१. लोक-गीत, लोक-कहानी, लोकोक्तियाँ, लोक-प्रचलित विविध व्यवसायों के शब्द, विविध अनुष्ठानों-उत्सवों आदि की रीति-नीति तथा आचार-प्रक्रिया, व्रत-कथाएँ, व्रत-विधान, ग्रामदेवता और ग्राम देवियाँ, देवयोनि सम्बन्धी विश्वासों, साहित्य, कविता आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज, संकलन और प्राप्त सामग्री का वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन और प्रकाशन।

२. भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषाओं का अध्ययन। अर्थात् उच्चारण या ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोश, धातुपाठ और व्युत्पत्ति के साथ उनका शब्दकोश प्रस्तुत करके प्रकाशित करना।

३. स्थानीय भूगोल, स्थान-नामों का इतिहास, व्युत्पत्ति और विकास, स्थानीय पुरातत्त्व और सब प्रकार के शिल्प एवं कलाओं का अध्ययन तथा प्रकाशन।

४. जनपदों के निवासी जनों का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करना। अर्थात् मनुष्यों की जातियाँ; उनका रहन-सहन, धर्म-विश्वास, रीति-रिवाज, नृत्य-गीत, आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव, मेले-तमाशे, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष और चरित्र की विशेषताएँ आदि का संकलन तथा उनकी छानबीन करके लोकहित की दृष्टि से उनके उपादेय अंशों को सचित्र प्रकाशित और प्रचारित करना। जैसे लोकनृत्य का प्रचार करना।

—सदस्यता के नियम—

१. वे व्यक्ति जो जनपदीय कार्य के किसी भी अंग की खोज, संकलन आदि काम में लगे हों, परिषद् के सदस्य हो सकते हैं।

२. वे व्यक्ति जो परिषद् के उद्देश्यों से सहानुभूति रखते हों, और उसके कार्य को आगे बढ़ाने में किसी भी प्रकार सहायक हों, परिषद् के सदस्य हो सकते हैं।

३. वे व्यक्ति जो परिषद् के किसी भी कार्य की पूर्ति के लिये विशेष दान द्वारा उसकी सहायता करें; परिषद् के सदस्य हो सकते हैं।

४. परिषद् का सदस्य शुल्क १) वार्षिक होगा।

५. जो संस्थाएँ उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर रही हैं वे इस परिषद् से संबद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार संबंध उपस्थापन के उपरांत भी वे संस्थाएँ अपना कार्य करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहेंगी। परिषद् केवल उनके कार्यों में सहायता पहुँचाने व कार्य-कर्ताओं तथा समान उद्देश्यवाली संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग स्थापित करने के लिये समय-समय पर सुझाव देती रहेगी।

६. जो जनपदीय संस्थाएँ इस परिषद् से अपने को संबद्ध करना चाहेंगी, उन्हें १०) संबंध शुल्क के रूप में परिषद् को देने होंगे और १०) प्रतिवर्ष वार्षिक शुल्क के रूप में।

७. प्रत्येक संबद्ध संस्था परिषद् की साधारण सभा में तीन प्रतिनिधि सदस्य भेजने की अधिकारिणी है।

८. प्रत्येक व्यक्ति जो नियमानुसार परिषद् का सदस्य बनेगा उसकी साधारण सभा का सदस्य होगा।

कार्यकारिणी समिति

९. साधारण सभा अपने वार्षिक अधिवेशन में कार्यकारिणी समिति का चुनाव करेगी और कार्यकारिणी समिति की सदस्य-संख्या १५ से अधिक न होगी।

१०. कार्यकारिणी का संगठन इस प्रकार होगा:—

सभापति १	उपसभापति २
प्रधान मंत्री १	मंत्री २
कोषाध्यक्ष १	शेष सदस्य।

११. कार्यकारिणी का निर्वाचन प्रथम बार तीन वर्ष के लिये होगा, तदुपरान्त यदि साधारण सभा चाहेगी तो वार्षिक चुनाव की प्रथा चालू कर सकेगी।

१२. कार्यकारिणी जिन सज्जनों को उचित समझेगी संरक्षक बना सकेगी।

१३. कार्यकारिणी व साधारण सभा अपने कार्य-संचालन के लिये आवश्यकता पड़ने पर नियम बना लेगी।

१४. प्रारंभ में संस्थापक सदस्य कार्यकारिणी समिति का चुनाव करेंगे।

१५. कार्यकारिणी समिति में यदि कोई स्थान रिक्त होगा तो उसकी पूर्ति सभापति करेंगे।

परिषद् के पदाधिकारी—

सभापति:—

आचार्य नरेन्द्रदेव

उपसभापतिः—

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रधान मन्त्रीः—

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मन्त्रीः—

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

बैजनाथसिंह 'विनोद'

कोषाध्यक्षः—

सेठ रामबाबूलाल

—कार्यसमिति के सदस्य—

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डा० उदयनारायण तिवारी

डा० सत्येन्द्र

श्री कृष्णानन्द गुप्त

श्री श्याम परमार

श्री देवीलाल सामर

श्री वंशीधर शुक्ल

श्री ठाकुरप्रसादसिंह

परिषद् का सम्पादकीय कार्यालय कुलपति निवास, हिंदू विश्वविद्यालय बनारस तथा संगठनात्मक कार्यालय १५, विंडसर प्लेस, नई दिल्ली में होगा।

२—मालव लोक-साहित्य परिषद्

मालवा में लोकसाहित्य, लोकजीवन और लोककला एवं संस्कृति के अध्ययन और विकास के लिये एक संगठित संस्था की आवश्यकता बहुत पहले से रही है। अतएव इस बड़े अभाव की पूर्ति के हेतु निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर "मालव-लोकसाहित्य-परिषद्" की स्थापना १९ अप्रैल १९५२ को की गई।

(क) लोकगीत, लोककहानियाँ, गीत-नाट्य, गीत-प्रबन्ध, पहेलियाँ, मुहावरे, उक्तियाँ, चुटकुले आदि लोक-साहित्य सम्बन्धी सामग्री एकत्र कर उसका वैज्ञानिक (ऐतिहासिक, समाज-शास्त्रीय एवं नृ-शास्त्रीय दृष्टि से) अध्ययन तथा प्रकाशन।

(ख) मालवी भाषा का कोष बनाना, विविध शब्द-समूह का संग्रह एवं मालवी का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन।

(ग) अन्ध विश्वास, रीति-रिवाज, जातीय-विशेषताओं आदि को ध्यान में रखते हुए समाज-शास्त्र एवं नृशास्त्रीय दृष्टि से लोक-जीवन का व्यापक अध्ययन।

(घ) लोक कलाओं (नृत्य, आकृति-आलेखन, ग्राम-शिल्प, भित्ति-चित्र) आदि का अध्ययन एवं आधुनिक साधनों द्वारा चित्रांकण ।

(ङ) लोक-संगीत का अध्ययन एवं लोकप्रिय गीतों, स्थानीय विशेषताओं की स्वर-लिपियाँ तथा रेकार्डस् तैयार करना ।

(च) मालवी भाषा में साहित्य-निर्माण करने में प्रोत्साहन देना ।

(छ) मालवी साहित्य एवं कला की विभिन्न सामग्री के लिए एक संग्रहालय की स्थापना ।

(ज) मा० लो० सा० परिषद् का भवन-निर्माण करना ।

(झ) लोक-साहित्य सम्बन्धी विद्यालय की स्थापना करना ।

परिषद् की 'स्थायी-समिति' के रूप में निम्नलिखित महानुभावों की सेवाएँ प्राप्त हैं ।

१ श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
२ " सूर्यनारायण व्यास (अध्यक्ष)
३ " हरिभाऊ उपाध्याय
४ ,, लालचंद सेठी (कोषाध्यक्ष)
५ ,, कुमार गन्धर्व (संगीतज्ञ)
६ ,, चन्द्रेश सक्सेना (चित्रकार)
७ ,, श्याम परमार (मंत्री)

मालवा लोक-साहित्य-परिषद् के कार्य को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से इस वर्ष के लिये अध्यक्ष एवं मंत्री के अतिरिक्त निम्नलिखित व्यक्तियों की एक संयोजक समिति बनाई गई है ।

श्री 'अनूप' (बडनगर), श्री त्रिभुवननाथ दवे (शाजापुर), श्री गजानन्द वर्मा, श्री बाबूलाल भाटिया तथा श्री बसन्तीलाल 'बंम' (उज्जैन), श्री चिन्तामणि उपाध्याय (रामपुरा) तथा श्री मदनकुमार चौबे (मन्दसौर)

दिनांक २६ जून को मा० लो० सा० परिषद् की दूसरी बैठक में सन् १९५२ के कार्यक्रम की रूपरेखा श्री श्याम परमार ने प्रस्तावित की जिसका समर्थन श्री 'अनूप' ने किया । रूपरेखा इस प्रकार है :—.

१—यात्रा (सर्वे)—१५ दिन की खोज संबंधी सामूहिक यात्रा की जाय जिसमें सभी साथी अपने-अपने विषय की सामग्री एकत्र करें ।

२—शब्द-संग्रह—कृषि सम्बन्धी मालवी शब्दों का संग्रह तथा उनका ध्वनि-विश्लेषण एवं चित्र भी बनाए जायें, कहावतें भी एकत्र करना ।

३—ग्राम-परिचय-पत्र—सौ पत्र भरकर तैयार करना ।

४—लोक-कथाएँ—विभिन्न जिलों से भिन्न-भिन्न विषयों की १०० लोककथाएँ एकत्र करना ।

५—लोक-कलाएँ—मालवी लोककलाओं का अध्ययन एवं सचित्र प्रकाशन।

६—लोक-संगीत—लोकसंगीत की कम से कम ५० धुनों का स्वर-तालिका तैयार कर उनका वैज्ञानिक अनुशीलन।

७—सामान्य प्रयास—लोकोक्ति-संग्रह, लोकगीत-संग्रह (किसी एक ही संस्कार के सम्पूर्ण गीत, अचार-विचारों सहित प्रथाओं की जानकारी से युक्त)

मालवा में बसनेवाली किसी एक जाति के विश्वास, रीति-रिवाज, इतिहास एवं अन्य जानकारी। मालवी तक्षण-कला की रूप-रेखा तैयार करना।

८—सदस्य—मा० लो० सा० परिषद् के सदस्य बनाना तथा प्रचार करना।

९—कार्यक्षेत्र—उज्जैन, मन्दसौर, बड़नगर, रतलाम, शाजापुर, धार एवं देवास।

३—भारतीय लोक-कला मण्डल

उदयपुर, राजस्थान

भारतीय लोक-कला मण्डल सर्वप्रथम राजस्थान तथा बाद में समस्त भारतवर्ष के लोक-नृत्यों, लोकनाट्यों और लोक-गीतों की खोज, पुनरुत्थान, प्रचार और विकास के लिये स्थापित हुआ है। यह इस विषय की अपने देश में प्रथम संस्था है और इसे देश के अनेक नेताओं, विद्वानों, समाजसेवियों और कलाकारों का सहयोग प्राप्त है। हमारा देश लोक-कलाओं की रंगस्थली है; परन्तु आज के मनोरंजन के कुप्रभाव के कारण हम धीरे-धीरे इस कलात्मक धरोहर को खोते चले जा रहे हैं; यदि हमने शीघ्र ही इस धरोहर को नहीं बचा लिया तो हमारे देश में जो कुछ भी कलात्मक संपत्ति बची है वह भी नहीं रहेगी। हमने अपने अनुभव से ज्ञात किया है कि राजस्थान, जिसे हमने अपना सर्वप्रथम कार्यक्षेत्र चुना है, बाहरी प्रभावों के बावजूद भी अपनी कलात्मक मौलिकता रखे हुए है।

भारतीय लोक-कला मण्डल सर्वप्रथम भारतीय जनता के सम्मुख राजस्थान के दो अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर लोक-नृत्य-नाट्य "गौरी" और "रासधारी" की झाँकियाँ उपस्थित कर रहा है। ये दोनों ही नृत्य-नाट्य राजस्थानी लोक-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। "गौरी" में भीलों के आराध्य देव भैरव का एक अनोखा और कलात्मक चित्रण और "रासधारी" में रामचरित्र की अत्यन्त कलापूर्ण झाँकियाँ हैं। दोनों ही नाट्यों में राजस्थानी गीतों की स्वर-लहरियों, पोशाकों की रंगीनी और भावभंगियों का अत्यन्त लोकप्रिय रूप है। ये नृत्य-नाट्य जितने ही सुन्दर और मनोमोहक हैं उतने ही सरल और रोमांचकारी हैं, उनमें असंख्य जन-समुदाय का हृदय स्पंदित होता है। हमें आशा है कि भारतीय जनता इन्हें देखकर निश्चय ही गौरव का अनुभव करेगी।

भारतीय लोक-कला मण्डल का एक सांस्कृतिक दल लोक-नाट्यों के प्रदर्शन, लोक-कलाओं के प्रचार तथा संस्था के भावी कार्य के लिये धन-संग्रह करने के उद्देश्य से अक्तूबर या नवम्बर १९५२ से दौरा करेगा। सर्वप्रथम इस संस्था और इसके प्रथम प्रदर्शन का उद्‌घाटन दिल्ली में होगा। उसके बाद भारत के सभी प्रमुख नगरों में प्रदर्शन होंगे।

देवीलाल सामर

४—पंजाब लोक-साहित्य परिषद्

पिछले दिनों मालव लोकसाहित्य परिषद् के मन्त्री श्री श्याम परमार लुधियाना पधारे थे। उनके सभापतित्व में दिनांक २९ जुलाई को गांधी मेमोरियल कालेज, लुधियाना में श्री नरेन्द्रधीर (सम्पादक, "विश्व विज्ञान") के संयोजकत्व में पंजाब लोकसाहित्य परिषद् की स्थापना हो गई, जिसके पदाधिकारियों का भी चुनाव हुआ, जो निम्न प्रकार है :—

स्थाई संयोजक	– नरेन्द्रधीर
प्रधान	– श्री ज्ञानीराम जी शास्त्री
मंत्री	– श्रीमती सुमति महेन्द्र
कोषाध्यक्ष	– कुमारी शशिबालिया
सदस्य	– १. श्री हरिवंशीलाल, २. जगदीशचन्द्र "कोक"
	३. सत्यपाल आनन्द, ४. कुमारी कमलेशधीर
	५. जीतेन्द्रीयलीखी, ६. शाकिर पुरुषार्थी—
	७. कुमार जी शर्मा

परिषद् के निर्माण के पश्चात् लोक-साहित्य संग्रह करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। शीघ्र ही वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन भी प्रारम्भ किया जायगा।

नरेन्द्रधीर
संयोजक

'जनपद' का लक्ष्य

हमारी संस्कृति के अध्ययन की सामग्री कई भाण्डारों में बिखरी पड़ी है। उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग परम्पराप्राप्त लिखित साहित्य में वर्तमान है। दूसरा उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग खण्डहरों, स्तूपों, शिलाखण्डों, गुफाओं आदि में छिपा पड़ा है। और इन दोनों के सामने ही, कई बातों में इन दोनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री जनता के मुख में जीवित परम्परा के रूप में चली आ रही है। यह सम्पूर्ण अलिखित और उपेक्षित पड़ा हुआ है। संस्कृत के पूर्ण और जीवन्त रूप की जानकारी के लिये ये तीनों ही परम आवश्यक हैं। इनमें से किसी की भी उपेक्षा उचित नहीं। वस्तुतः ये एक दूसरे के पूरक हैं। जबतक साहित्य और संस्कृति के प्रेमी इस बात को भलीभाँति अनुभव नहीं करते तब तक अपनी संस्कृति के समझने का प्रयास अधूरा और विकलांग बना रहेगा।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक साधनों की वृद्धि के साथ ही साथ नगर स्फीत होने लगे हैं और गाँवों की परंपरा क्रमशः विकृत और लुप्त होने लगी है। इसीलिए विचारशील लोगों के मन में आशंका होने लगी है कि लोकसाहित्य की जीवन्त परम्परा आगे चलकर हमारे सांस्कृतिक स्वरूप के अध्ययन में उतना महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे सकेगी, जितना आज दे सकती है। परन्तु यह अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है कि जनता और सरकार दोनों ही की ओर से इस महत्त्वपूर्ण परम्परा की उपेक्षा हो रही है। सभी विचारशील लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि तेजी, तत्परता और दक्षता के साथ जनपदों में बची हुई लोक-परम्परा का संकलन और सम्पादन किया जाय। गांवों में फैले हुए अनेक प्रकार के लोकगीत, व्रतकथाएं, रीति-नीति, धार्मिक विश्वास, उद्योग और शिल्प, नाटक और नृत्य, विभिन्न जातियों की परम्पराएँ, विभिन्न पेशों के परिभाषिक शब्द, कहावतें आदि को वैज्ञानिक ढंग से संकलन किया जाय और अपनी प्राचीन साहित्यिक तथा प्रत्नतात्विक परम्परा के साथ मिलाकर अध्ययन किया जाय। "जनपद" इसी महान् उद्देश्य को सामने रखकर प्रकाशित किया जा रहा है।

विद्वानों ने ऐसा अनुभव किया है कि गाँव-गाँव में फैली हुई इस विशाल सामग्री के अध्ययन और संकलन के लिये जिस अनासक्त वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है, वह अधिकांश जनपदीय कार्यकर्ताओं में नहीं पाई जाती। इस प्रकार की दृष्टि उत्पन्न करना भी "जनपद" का एक लक्ष्य है, क्योंकि जबतक हम लोकसाहित्य को अनासक्त वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं देखते तबतक विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करनेवाले विद्वानों को विश्वसनीय सामग्री भी नहीं दे सकते। विश्वसनीय सामग्री के अभाव में विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विद्वानों के प्रयास अधूरे बने रहेंगे।

लोकसाहित्य और लोक-शिल्प में जिस प्रकार तेजस्वितापूर्ण शक्ति है, उसी प्रकार उसमें जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध से उत्पन्न ताजगी और प्रेरणादायिनी शक्ति भी है। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले सदहृयों को इस प्राणदायिनी शक्ति, ताजगी और प्रेरणा से लाभान्वित होना चाहिए। प्रत्यक्ष जीवन से सम्पर्क स्थापित करने के लिये इस महत्त्वपूर्ण साहित्य की आवश्यकता बहुत पहले से अनुभव की जाने लगी है। "जनपद" यथा-साध्य इस उद्देश्य की भी पूर्ति करेगा।

"जनपद" ऊपर कहे हुए महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा से प्रकाशित हो रहा है। इसके अध्ययन और अनुशीलन का क्षेत्र उतना ही व्यापक है, जितना स्वयं मानव-जीवन का। इसीलिए उसे संस्कृति, साहित्य और सभ्यता के सभी प्रेमियों की सहायता अपेक्षित है। वह सभी सहृदयों के सौजन्य-सहयोग का सम्बल लेकर ही प्रकाशित हो रहा है।

जो साहित्यप्रेमी और लेखक शहरों और गाँवों में फैले हुए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि निम्नलिखित सामग्री के सम्बन्ध में "जनपद" के लिये लेख और सूचनाएँ कृपापूर्वक भेजें। लोक-साहित्य, लोक-गीत, लोक-कहानियाँ, लोक-वार्ता, भाषा, शब्दावली, देवी-देवता, नृत्य-गान, पर्व-उत्सव, मेले-गोष्ठियाँ, व्यायाम और क्रीडाएँ, वेश-भूषा, आभूषण, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पूजा-उपासना, विश्वास, मान्यताएँ, जीवन के विविध उपकरण, घरेलू सामग्री, मेंहदी मांडने, चौक और ऐंपन, भीत पर बनाए जानेवाले चित्र और अलंकरण, वस्त्रों की बनाई-छपाई-कढ़ाई की प्रक्रियाएँ और शब्दावली, भिन्न-भिन्न पेशेवरों की शब्दावलियाँ, शृंगार और प्रसाधन की विधियाँ, लोक-कला, मिट्टी के खिलौने, मट्टी के बर्तन-भाण्डे, मूर्तियाँ, स्थानीय वीरोचित आख्यान, लोकोक्तियाँ और मुहावरे, स्थानीय बोलियों का धातुपाठ, भौगोलिक वर्णन, पुष्प और लताएँ, घास और तृण, वृक्ष और वनस्पति सम्पत्ति, विशेष प्रकार के फल और उनकी किस्में, पशु-पक्षी, पशु-पक्षियों के आवागमन और कौतुक-क्रीडाएँ कीट-पतंग, ऋतु, वृष्टि और हवाएँ, स्वास्थ्य-ज्ञान और लोक में प्रचलित औषधियाँ, पशु-चिकित्सा, लोक-नाट्य, आमोद-प्रमोद, सामाजिक-शिष्टाचार, विविध जातियों-उपजातियों के आचार, व्यवहार, जन्म, नामकरण, विवाह, मृतक आदि विशेष और सामान्य संस्कार, स्थान-नामों की व्युत्पत्ति और तत्सम्बन्धी कथाएँ। कहने का अर्थ यह कि जिन विषयों का लोक जीवन से सम्बन्ध है, वे सभी "जनपद" पत्र के लिये उपयोगी सामग्री हो सकती हैं। सरल शब्दों में उन्हें लिखकर भेजने की कृपा करें।

"जनपद" हिन्दी जनपदीय परिषद् का मुख पत्र है। परिषद् के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इसका लक्ष्य है। परिषद् के पदाधिकारी और सदस्य इस पत्रिका को सफल बनाने में सभी साहित्य और संस्कृति-प्रेमियों का सहयोग आमन्त्रित करते हैं। विशाल हिन्दी जगत् के सहयोग से और नियमित रूप से कार्य करने के फलस्वरूप आशा है "जनपद" पत्र के द्वारा लोकसाहित्य और लोकजीवन सम्बन्धी साहित्य का विशाल भण्डार सामने लाने में यह प्रयत्न सफल होगा।

सम्पादक मण्डल

अपनी बात

'जनपद' का जन्म'

यह सन्तोष की बात है कि अब धीरे-धीरे विभिन्न जनपदों में उत्साही और परिश्रमी कार्यकर्ता स्वेच्छा से साधारण जनता के साहित्य, नृत्य, अभिनय, शिल्प और भाषाओं का अध्ययन रुचिपूर्वक करने लगे हैं। पिछले कई वर्षों से विभिन्न जनपदों के लोकसाहित्य का संकलन-संपादन और प्रकाशन का कार्य होने लगा है। देश के विचारशील लोगों का भी ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है। जो लोग अलंकृत और अभिजात साहित्य के प्रेमी हैं वे भी लोक-साहित्य का महत्त्व अनुभव करने लगे हैं। विश्वविद्यालयों ने भी धीरे-धीरे इस अध्ययन का महत्त्व स्वीकार करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु अब तक यह कार्य खंड-विच्छिन्न भाव से होता रहा है। महाप्राण व्यक्तियों के अडिग उत्साह और कभी समाप्त न होनेवाले धैर्य ने ही इस कार्य को अग्रसर किया है। अब तक यह प्रयत्न थोड़े-से ऐसे व्यक्तियों के उत्साह पर ही अवलंबित है जो किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखते हुए विशुद्ध सेवाभाव से प्रेरित होकर यह कार्य करते रहे हैं। पर अब समय आ गया है जब संघबद्ध होकर कार्य करना वाञ्छनीय ही नहीं आवश्यक भी हो गया है। जनपदों में फैला हुआ विस्तृत साहित्य परस्पर निरपेक्ष नहीं है। एक प्रदेश के लोकगीत दूसरे प्रदेश के लोक-गीतों के आलोक में अधिक स्पष्ट होते हैं। कभी विभिन्न प्रदेशों में फैले हुए आचार-विचार गीत-नृत्य और कथाएँ भूले हुए इतिहास पर प्रकाश डालती हैं, मानव समूहों की गति-विधि और पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करती हैं और पुराने जमाने की सुरक्षित सामग्री का रहस्योद्घाटन करती हैं। केवल एक प्रदेश में सीमित रहने पर यह उद्देश्य सफल नहीं होता। विभिन्न प्रदेशों में संगृहीत सामग्री मनुष्य जीवन के अनेक पार्श्वों को सुदृढ़ बनाती हैं, पुराने इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ती हैं और वर्तमान समाज में बद्धमूल मानस ग्रन्थियों और सामाजिक विधि-निषेधों का रहस्य खोलती हैं। केवल एक प्रदेश में सीमित रहनेवाला कार्यकर्ता लोकगीतों के काव्य-गुणों को और उसकी अभिव्यक्ति के तेज को देखकर ही अभिभूत हो जाता है, वह न तो उस साहित्य के मानवीय पक्ष का उचित मूल्यांकन ही कर पाता है और न उसे समूचे मानव-समाज की वृहत्तर समस्याओं के समाधान में विनियोजित ही कर पाता। इसलिए इस दिशा में सर्व भारतीय आधार पर संघटित कार्य की आवश्यकता है। यह अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि विभिन्न प्रदेशों के कार्यकर्त्ता एकत्र सम्मिलित हों, एक दूसरे की समस्याओं में से परिचित हों। इससे न केवल कार्य करने में सुविधा होगी बल्कि नवीन दृष्टि भी प्राप्त होगी। ऐसी ही आवश्यकता की बात सोचकर पिछले अप्रैल में ब्रजसाहित्य सम्मेलन के अवसर पर जनपदीय कार्यकर्ताओं का सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन हिंदी भाषी जनपदों के कार्यकर्ताओं का था। शुरू में इसी सीमित क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के संघटन का निश्चय हुआ। यद्यपि हिंदी भाषी जनपदों का क्षेत्र समूचे भारत वर्ष को देखते हुए

सीमित ही है तथापि वह भारतवर्ष के बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सों से बना है। वह बहुत छोटा भी नहीं है। एक दृष्टि से एक इकाई है। अभी तक इसके लोकसाहित्य का मुख्य अध्ययन हिंदी भाषा के माध्यम से ही हो रहा है। अभी स्वल्पारंभ को ही क्षेमकर मानकर कार्य करने का संकल्प किया गया। जो लोग इस कार्य के पुराने प्रेमी हैं उन्हें भी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और उल्लास हुआ कि देश के कोने-कोने में इतनी अधिक संख्या में कार्यकर्ता अपने-अपने ढंग से कार्य कर रहे हैं। सम्मेलन में आए हुए दूर-दूर के प्रतिनिधियों को देखकर सचमुच बहुत लाभ हुआ। यद्यपि सभी प्रदेशों में सभी प्रकार के जनपदीय कार्य नहीं हो रहे हैं तथापि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से काम होने लगे हैं। कहीं लोकगीतों का संग्रह हो रहा है तो कहीं लोकनृत्यों के संरक्षण का प्रयास हो रहा है; कहीं बोलियों के शब्दों का कोष प्रस्तुत हो रहा है तो कहीं मुहावरों का संकलन चल रहा है; कहीं जनशिल्प का संचयन हो रहा है तो कहीं लोकवार्ताओं का संकलन। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के कार्य देखकर संघबद्ध प्रयत्न की आवश्यकता और भी अनुभूत हुई। यह बहुत ही शुभ लक्षण है कि इस सम्मेलन को परम श्रद्धेय राष्ट्रपति महोदय का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इसी सम्मेलन में एक कार्यकारिणी का संघटन हुआ जिसके सभापति श्रद्धेय आचार्य नरेन्द्रदेव जी निर्वाचित हुए और उपसभापति डा० वासुदेव शरण अग्रवाल और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। इस संस्था के मंत्री पं० बालकृष्ण शर्मा निश्चित हुए।

जब तपे तपाए लोकसाहित्य-सेवक लिए गए। तब एक ऐसी पत्रिका की आवश्यकता अनुभव की गई, जिसमें जनपदीय साहित्य की विवेचना भी हो और विभिन्न प्रदेशों में किए जानेवाले कार्यों की गतिविधि का नियमित विवरण भी प्रकाशित हो। इसी प्रयत्न से 'जनपद' त्रैमासिक का जन्म हुआ। इस पत्र के प्रकाशित होने के समाचार से समूचे हिंदी जगत् में हर्ष और उल्लास का संचार हुआ है।

राष्ट्रपति का आशीर्वाद

हिन्दी जनपद-कार्यकर्ताओं के प्रथम सम्मेलन को हमारे महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर आपने जो भाषण दिया, उसका सारांश अन्यत्र प्रकाशित किया गया है। राष्ट्रपति के भाषण से जनपदीय कार्यों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जनपदीय कार्यकर्ताओं को उनके भाषण से बहुत उत्साह और प्रेरणा मिली। सम्मेलन के लिये इससे अधिक शुभ सम्वाद दूसरा नहीं हो सकता। किन्तु इस आशीर्वाद ने हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ा दिया है। बड़ों का आशीर्वाद पा लेना सौभाग्य की बात है पर उस आशीर्वाद को ग्रहण करने की योग्यता अर्जन करना सरल कार्य नहीं है। हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि हम इस आशीर्वाद के उचित अधिकारी सिद्ध

हों। राष्ट्रपति की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिये देशवासियों को बड़ा से बड़ा त्याग करना चाहिए। हम इस समय केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि अपनी शक्ति भर हम प्रयत्न करेंगे कि इस महान् उत्तरदायित्व का ठीक ठीक निर्वाह कर सकें।

गाँवों की रसधारा क्षीण होती जा रही है

इस अंक में अन्यत्र कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर के एक पुराने प्रवचन की कुछ पंक्तियाँ प्रकाशित की जा रही हैं। कवि ने आज से वर्षों पूर्व जो आशंका प्रकट की थी वह अब मूर्तिमान् हो रही है। गाँवों का जीवन क्रमशः निरानंद होता जा रहा है। शहर निरन्तर स्फीत होते जा रहे हैं और सस्ते ढंग के मनोरंजन को महँगे दामों पर बेंचने का आयोजन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। एक एक बार यह देखकर ग्लानि होती है कि देश किधर गिर रहा है। सिनेमा के सस्ते गानों ने परंपरा से प्रचलित तेजोदृप्त गानों की कमर तोड़ दी है, कलापूर्ण जीवन को सस्ती तड़क-भड़क से हार माननी पड़ी है, स्वस्थ रसानुभूतियों और रसाभिव्यक्तियों को बीमार मनोवृत्ति के तरानों ने पछाड़ दिया है। रवीन्द्रनाथ ने बड़े दुःख के साथ कहा था कि जो बचा है वह भी सूख जायगा। हमारी आंखों के सामने यह परितापजनक दृश्य नित्य घट रहा है। अफसोस करने से कोई लाभ नहीं। वैज्ञानिक युग में लोग उधर अवश्य झुकेंगे जहां वैज्ञानिक सुविधाएं प्राप्त होंगी। जहाँ पानी नहीं मिलेगा, रोशनी नहीं मिलेगी, जीविका नहीं चलेगी, वहाँ लोग ग्रामगीतों और व्रतकथाओं के लोभ से नहीं डटे रहेंगे। वे उन स्थानों पर जायँगे ही जहाँ ये चीज़ें प्राप्त होती हों। शहरों में ये साधन सुलभ हैं। नई शिक्षा ने जिस दृष्टिकोण को जन्म दिया है वह शहरों के अनुकूल है, गाँवों के प्रतिकूल। केवल उपदेश देने से गाँव के सीधे-सादे सरल लोग शहरों की ओर आने से नहीं रुक जायँगे। इस युग में यह आशा करना व्यर्थ है कि लोग पुराने ढंग की खेतीबारी करने लगेंगे और उनका जीवन अन्यनिरपेक्ष और विशुद्ध बना रहेगा। शहरों से और नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जनता को अस्पृष्ट रखना न तो संभव है न उचित। आए दिन के राजनीतिक हलचलों की तरंगें गांवों तक पहुँच ही जायंगी, बल्कि यह कहना चाहिए कि कोई चाहे या न चाहे यह तरंगें गांवों तक पहुँचा ही दी जायंगी। कैसे कोई आशा कर सकता है कि इस युग में गाँव शहर की हलचलों से अछूते रह सकेंगे।

परन्तु फिर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि गाँवों की यह रसधारा क्या बचाई नहीं जा सकती? क्या गाँवों में शहर की बुराइयाँ ही जाती रहेंगी, नवीन वैज्ञानिक साधनों के उत्तम गुण नहीं जा सकेंगे? क्या यह दीर्घ परंपरा से बहती आई हुई स्वस्थ वाग्धारा सूख जाने के लिये ही जी रही है? ये प्रश्न बहुत महत्त्व के हैं। विशुद्धता का मोह न हो, किन्तु स्वस्थ प्राणधारा का प्रेम तो मोह नहीं है। जहाँ भी जीवनीशक्ति होगी वहाँ इर्द गिर्द के वातावरण से रस ग्रहण करने की योग्यता भी होगी। ग्रामीण जनता साहित्य के अभिजात रूप से, नागरिक विनोदों के आकर्षक पक्ष से और वैज्ञानिक साधनों के सुविधाजनक स्रोत से अपने आनंद-विनोद के साधन को समृद्ध करती रहेगी, इसमें संदेह नहीं। जो लोग इस प्रकार

के मिश्रण से भड़कते हैं वे नहीं जानते कि ऐसा हमेशा ही होता आया है। जिस देश का साहित्य समृद्ध होगा उस देश की ग्रामीण जनता उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रहेगी। जो देश औद्योगिकीकरण के प्रयास में शक्ति लगा रहा है, उसमें व्यावसायिक जीवन की धूल अवश्य उड़ेगी। फिर भी इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि गाँवों के जीवन में ऐसी बुभुक्षा और दरिद्रता का प्रभुत्व न हो जाय कि वह स्वस्थ भाव से वस्तुओं को ग्रहण न करे, भुक्खड़ों की भाँति जो पावे उसे ही उदरपूर्ति का साधन बनाने लगे। गाँवों में आधुनिक जीवन की सब सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ, वहाँ की जनता को स्वस्थ और आत्मनिर्भर बनने के सब उपकरण मिलने चाहिएँ; जब स्वास्थ्य ठीक रहता है तो पाचनशक्ति भी दुरुस्त रहती है और गृहीत वस्तु का सार भाग जीवन का अंग बन जाता है। आज गाँवों का ऐश्वर्य समाप्त हो रहा है। दीर्घ जन-क्षेत्र में बुभुक्षा और दरिद्रता का ताण्डव दिखाई देने लगा है। समय रहते ध्यान नहीं दिया गया तो रही सही रसधारा भी सूख जाएगी और स्वस्थ जीवनी-शक्ति नष्ट हो जाएगी। जनपद-जीवन का यह सांस्कृतिक संकट उत्पन्न चिन्ता का विषय हो गया है। देश की सोचने समझने वाली जनता और राज्य का कर्तव्य है कि व्यवस्था करे जिसमें जनपद-जीवन का ऐश्वर्य लुप्त न होने पाए।

उदार सहायता

'जनपद' का यह अंक हाथरस के सेठ श्री रामबाबूलाल जी सहायता से प्रकाशित हो रहा है। श्री राम बाबूलाल जी सुलझे हुए प्रगतिशील विचारों के श्रीमन्त व्यक्ति हैं। उन्हीं की उदार सहायता से अब तक परिषद् का और उसकी इस मुख पत्रिका का काम चलता रहा है। वे ही परिषद् के कोषाध्यक्ष भी हैं। जनपदीय कार्यों के सभी प्रेमी उनकी इस उदार सहायता के लिये कृतज्ञता अनुभव करेंगे। हमें भविष्य में भी सेठ जी से बहुत आशा है। इस अवसर पर हम जनपदीय परिषद् और उसकी मुख्य पत्रिका की ओर से उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं। 'जनपद' का यह परम सौभाग्य है कि हिंदी के सभी लब्धप्रतिष्ठ लेखकों और जनपदीय कार्यकर्ताओं का सहयोग उसे प्राप्त हुआ है। इसके प्रकाशन के निश्चय से सभी हिंदी प्रेमियों ने बहुत उल्लास प्रकट किया है। हमने जिससे जो सहायता माँगी है उसी ने वह सहायता प्रेमपूर्वक प्रदान की है और भविष्य में भी सदा प्रसन्नतापूर्वक देते रहने का वचन दिया है। जिन कृती लेखकों की रचनाएँ इस अंक में प्रकाशित हुई हैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने योग्य शब्द हमारे पास नहीं हैं। हमें इस बात से बड़ा सन्तोष है कि हमारे इस यज्ञ में सबका सहयोग प्राप्त हुआ है।

—ह० द्वि०

भाषा सर्वे की आवश्यकता

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में संस्कृत भाषा के ज्ञान के साथ-साथ योरप में भाषा-विज्ञान के अध्ययनका सूत्रपात हुआ जिससे वहाँ प्राचीन भाषाओं का अध्ययन तीव्र-

गति से होने लगा। इसके परिणाम स्वरूप ही संसार की भाषाओं का ऐतिहासिक वर्गीकरण सम्पन्न हुआ और भारोपीय (Indo European) परिवार अस्तित्व में आया। वस्तुतः योरप तथा एशिया की अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाएँ—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता की भाषा, पुरानी फारसी, अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, हिन्दी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि—भारोपीय की ही आत्मजा हैं।

पहले भाषा-शास्त्रियों का विचार था कि मूल भाषा के स्वर एवँ व्यञ्जन पूर्ण रूप से संस्कृत में ही सुरक्षित हैं किन्तु बाद के अनुसंधानों से पता चला कि इसके स्वर तो ग्रीक तथा लैटिन में और व्यञ्जन संस्कृत में सुरक्षित हैं। भारोपीय के सम्बन्ध में निरन्तर खोजों का परिणाम यह हुआ कि उसके ध्वनि-समूह एवं व्याकरण की रूप-रेखा निश्चित हो गई। वस्तुतः भारोपीय की खोज इस शताब्दी के श्रेष्ठतम अनुसंधानों में से है। इससे भारत, ईरान तथा यूरोप की प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं के अध्ययन को ही प्रेरणा नहीं मिली अपितु इसकी सहायता से भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में अनेक मौलिक तत्वों का भी पता चला।

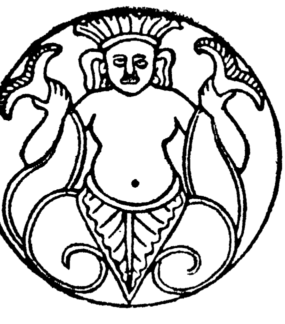
योरप के विद्वानों ने जब भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया तो सब से पहले उनका ध्यान प्राचीन भाषाओं (Classics) की ओर ही गया। इसी के परिणाम स्वरूप ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता की भाषा तथा पुरानी फारसी आदि का अध्ययन सम्पन्न हुआ; किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में जर्मनी के कतिपय नवीन पीढ़ी के भाषा-शास्त्रियों ने जीवित अथवा बोलचाल की भाषा के अध्ययन के महत्व की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। पहले तो जर्मनी के पुराने पण्डितों ने उन्हें नव्य-वैयाकरण (Junggrammatiker young grammarian) कहकर इनकी हँसी उड़ाई, किन्तु आगे चलकर उन्हें इस बात का बोध हुआ कि नव्य-वैयाकरणों के कथन में सत्य का अंश विद्यमान है। इसका फल यह हुआ कि योरप में प्राचीन भाषाओं के साथ-साथ नव्य अथवा आधुनिक भाषाओं के भी गम्भीर अध्ययन का सूत्रपात हुआ।

आधुनिक विद्वान् तो आज इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर चुके हैं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से केवल उन्हीं भाषाओं का महत्त्व नहीं है जो साहित्य सम्पन्न हैं, किन्तु उन बोलचाल की भाषाओं एवं विभाषाओं का भी उतना ही महत्त्व है, जिनमें नाममात्र का साहित्य है। इससे बोलचाल की भाषाओं की मान-मर्यादा बढ़ गई है और उनका वैज्ञानिक अध्ययन भी होने लगा है।

भारत की आधुनिक भाषाओं के सर्वप्रथम अध्येता योरप के ही विद्वान् थे। इनमें बीम्स, हार्नले, टेसीटरी, ब्लाश, टर्नर आदि का नाम गिनाया जा सकता है। इस दिशा में सबसे श्लाघनीय प्रयत्न श्री ग्रियर्सन का है। आपने भारत की आधुनिक भाषाओं की सर्वे की तथा उनका विवरण लिंग्विस्टिक सर्वे की कई जिल्दों में प्रकाशित किया। ग्रियर्सन ने इन

विवरणों में विभिन्न बोलियों के उदाहरणों के साथ-साथ उनका संक्षिप्त व्याकरण, विस्तार-क्षेत्र एवं उनके बोलनेवालों का थोड़ा बहुत ऐतिहासिक परिचय भी दिया है। यह कार्य उस समय सरकारी सहायता से ही सम्पन्न हुआ था। विभिन्न जिलों के शासकों—कलक्टरों, डिप्टी कलक्टरों, तहसीलदारों, पटवारियों आदि—ने अपने यहाँ से भाषाओं के नमूने भेजकर इसमें सहायता की थी। यद्यपि ग्रियर्सन ने विवरण सम्बन्धी कार्य को बड़े मनोयोग से किया था और उनके द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री आज के भाषाक्षेत्र में कार्य करनेवालों के लिये बहुमूल्य तथा पथप्रदर्शक है, तथापि आज हमें उसी कार्य से सन्तोष नहीं करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि अब ग्रियर्सन का कार्य पुराना हो चला है और आज इस बात की आवश्यकता है कि नवीन ढंग से भारत की भाषाओं एवं बोलियों का विस्तृत अध्ययन किया जाय। समय की प्रगति के साथ-साथ भारत की आधुनिक भाषाओं में शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं, अतएव सरकार को भाषा-सर्वे का कार्य अपने हाथ में लेकर, उसे यथासम्भव शीघ्र सम्पन्न कराना चाहिए।

उ० ना० तिवारी



सभापति का निवेदन

हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं। पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषा प्राकृत अथवा अपभ्रंश थी। इनका साहित्य समृद्ध था और इनका स्थान भी साहित्य-क्षेत्र में ऊँचा था। ये भाषाएँ विलुप्त हो गईं और उनका स्थान ब्रज, अवधी आदि भाषाओं ने ले लिया। इनमें ऊँचे दर्जे का पद्य साहित्य है, पर गद्य साहित्य का अभाव है। पीछे अनेक कारणों से साहित्य की भाषा के रूप में आधुनिक हिन्दी की प्रतिष्ठा एक बड़े विशाल भू भाग पर हुई और इन पुरानी भाषाओं में साहित्य-निर्माण का कार्य घटने लगा तथा धीरे-धीरे इनकी अवस्था सामान्य बोलियों की रह गई। इसके कारण इनकी उपेक्षा होने लगी। इनका भाग्य तब जागा जब पश्चिम में धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ, भाषा विज्ञान की सृष्टि हुई और भाषाओं तथा बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। यही कारण है कि आरम्भ में केवल योरोपीय विद्वानों ने ही हमारे देश में इस कार्य को किया। हम उनके अत्यन्त ऋणी हैं। धीरे-धीरे भारतीय विद्वान् भी अन्वेषण कार्य में लगे। किन्तु जहाँतक इस विषय का सम्बन्ध है हमारे विद्वानों ने इस दिशा में बहुत कम कार्य किया है। थोड़ा-बहुत जो काम हुआ है, उसकी हम सराहना करते हैं। किन्तु किसी एक योजना के आधार पर इस क्षेत्र में काम करनेवाले सभी सज्जनों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की गई है। अब तो यह सम्भव नहीं है और न वाञ्छनीय ही है कि इन बोलियों को भाषा का स्थान दिया जाय। किन्तु इनका वैज्ञानिक अध्ययन भाषा-शास्त्र की दृष्टि से आवश्यक है तथा शब्दों का संग्रह हिन्दी साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

जनतन्त्र के युग में जनता के सामान्य जीवन के अध्ययन का बड़ा मूल्य है। उनके हृद्गत भावों का, उनकी प्रेरणाओं का पता लोकगीतों से चलता है। उनके क्रमागत अनुभव प्रचलित कहावतों में उपनिबद्ध हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी कोई संस्कृति ही नहीं है। वह भी कला-प्रेमी होते हैं। लोक-नृत्य, भजन, लीला तथा यात्राएँ उनके जीवन की इस दिशा के परिचायक हैं। इन सबका संग्रह तथा वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है।

हमारी बोलियों में अनेक ऐसे शब्द सुरक्षित हैं, जिनका उपयोग हम हिंदी साहित्य में कर सकते हैं। उनमें ऐसे मुहावरे हैं जो कि व्यवहार में आ सकते हैं। खेद का विषय है कि आज इनकी उपेक्षा हो रही है। यही नहीं, हम उनका उपयोग करने में लज्जा का

विषय-सूची